ॐ

परमात्मने नमः

अष्ट प्रवचन

(भाग - 1)

श्री तारणस्वामी विरचित
श्री 'ज्ञानसमुच्चयसार' आदि ग्रंथों पर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के
सम्यक्त्व प्रेरक
आठ अमृत-प्रवचन

संकलनकर्ता
ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
'कहान रश्मि', सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

भूमिका

गत वर्ष दसलक्षणी पर्यूषण पर्व के समय सागर निवासी समाजभूषण सेठ श्री भगवानदासजी, सेठ श्री शोभालालजी, टिमरनी निवासी सेठ श्री चुन्नीलालजी, पण्डित श्री जयकुमारजी आदि महानुभाव सोनगढ़ आये थे, उस समय समयसार की ४७ शक्ति के ऊपर एवं प्रवचनसार के ऊपर पूज्य श्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस-पूर्ण प्रवचन सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए, और उनकी श्री तारणस्वामी रचित शास्त्रों का मार्मिक अर्थ गुरुदेव के श्रीमुख से सुनने की जिज्ञासा हुई। उनकी विनती के अनुसार पूज्य गुरुदेव ने श्री तारणस्वामी विरचित 'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' आदि ग्रन्थों के सार भाग के ऊपर आठ दिन तक अध्यात्म भावना से भरपूर विवेचन किया। यह आध्यात्मिक विवेचन सुनकर सेठ भगवानदासजी, शोभालालजी आदि को बहुत प्रसन्नता हुई और आठों प्रवचन छपवाने की उनकी भावना हुई। तदनुसार इन आठों प्रवचनों का संग्रह इस 'अष्ट प्रवचन' के रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्रवचन के साथ मूल गाथायें भी दी गई हैं।

'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता श्री तारणस्वामी विक्रम संवत् की १६ वीं शताब्दी में मध्य प्रान्त में हुये। मध्य प्रान्त में अनेकों जिज्ञासु आपकी अध्यात्म-शैली से प्रभावित हैं। आपके द्वारा रचे गये ग्रन्थों में बार-बार कुन्दकुन्दस्वामी, अमृतचन्द्रस्वामी, समन्तभद्रस्वामी आदि आचार्यों के समयसार, नियमसार, स्वयंभूस्तोत्र, योगसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्रों का उल्लेख किया गया है। आपकी प्रतिपादन शैली अध्यात्मरस से भरपूर है। इससे आपके ग्रन्थ के ऊपर किया गया

यह विवेचन भी अध्यात्म-रसिकजनों को अवश्य रुचिकर होगा। आठ प्रवचनों के साथ-साथ उससे सम्बन्धित चर्चायें भी सम्मिलित कर दी गई हैं। सेठ श्री भगवानदासजी शोभालालजी ने इन प्रवचनों के प्रकाशन के द्वारा अपनी अध्यात्म-प्रचार की जो भावना व्यक्त की है, वह प्रशंसनीय है। इन अष्ट प्रवचनों में सम्यक्त्व की बहुत ही महिमा व प्रशंसा की गई एवं बार-बार उसके पुरुषार्थ की प्रेरणा दी गई है। हमारे साधर्मी बन्धु इस 'अष्ट प्रवचन' के द्वारा अध्यात्मरस का पान करके सम्यक्त्वमार्ग में उद्यमी बनें—यही कामना है।

दीपावली : २४८९ **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन**

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

कुन्दकुन्द-वाणी

श्रावक को प्रथम क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं कि—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥८६॥

हे श्रावक! प्रथम तो शुद्ध-निर्मल सम्यक्त्व को मेरुवत् निष्कंप-दृढ़रूप से धारण करके, दु:ख-क्षय के हेतु उसी को ध्यान में ध्याओ।

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि॥८७॥

जो सम्यक्त्व को ध्याता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणमित होता हुआ वह जीव, आठों दुष्ट कर्मों का क्षय करता है। *(मोक्षप्राभृत)*

सम्यक्त्व-महिमा

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्मत्तमाहप्पं॥८८॥

सम्यक्त्व की महिमा के लिये अधिक क्या कहें? जो प्रधान पुरुष पूर्वकाल में सिद्ध हुये हैं और भविष्य में होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो। सम्यक्त्व, मुक्ति का प्रधान कारण है और सम्यक्त्व ही धर्म के सर्व अङ्गों को सफल करता है।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं॥८९॥

सिद्धिकर ऐसे सम्यक्त्व को जिस पुरुष ने स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है, वह पुरुष धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वह शूरवीर है, वही मनुष्य और पंडित है। सम्यक्त्व रहित नर, पशु-समान है।

(मोक्षप्राभृत)

सम्यग्दृष्टि की रीति

चिन्मूरत दृगधारी की
मोहि रीति लगत है अटापटी।
बाहिर नारकिकृत दुःख भोगे
अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै
तिस परनति तें नित हटाहटी॥चि० १
ज्ञानविराग शक्ति तें विधिफल
भोगत पै विधि घटाघटी,
सदन निवासी तदपि उदासी
तातें आस्रव छटाछटी॥चि० २
जे भवहेतु अबुध के ते तस
करत बंध की झटाझटी,
नारक पशु तिय षट विकलत्रय,
प्रकृतिन की ह्वै कटाकटी॥चि० ३
संयम धर न सके पै संयम-
धारन की उर चटाचटी,
तासु सुयस गुन की दौलत को,
लगी रहे नित रटारटी॥चि० ४

सम्यक्त्व

काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भव-समुद्र भी अनादि है। अनादिकाल से भव-समुद्र में भटकते हुए जीव ने दो वस्तुएँ कभी प्राप्त नहीं कीं—एक तो श्री जिनवरस्वामी और दूसरा सम्यक्त्व।

—योगीन्दुदेव

×××

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥३४॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

तीन काल और तीन लोक में जीवों को सम्यक्त्व-समान कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व-समान अन्य कोई अकल्याण नहीं है।

विरम किमपरेण कार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः॥

(समयसार, कलश ३४)

हे भव्य! तुझे अन्य व्यर्थ ही कोलाहल करने से क्या लाभ है? तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में, जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे उस आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है या होती है?

दो शब्द

'अष्ट प्रवचन' पुस्तक के विषय में हम अपनी ओर से क्या कहें और इस प्रसंग में कुछ कहना हमारा काम भी नहीं है, फिर भी दो शब्दों में यदि कुछ निवेदन कर दें तो यह अप्रासंगिक नहीं होगा।

सांसारिक व्यापार में बहुत समय तक लगे रहनेवाले व्यक्ति उसमें एक न एक दिन थकान का अनुभव करते हैं। तब कुछ समय विश्राम और मानसिक शान्ति चाहते हैं। हमें भी कुछ ऐसा ही लगा कि वैभव की प्यास तो कभी न बुझनेवाली प्यास की तरह कठिन रोग है, उच्चाभिलाषा एक नशा है और यशोलिप्सा का ज्वर जिसे चढ़ जाता है, कठिनाई से ही उतरता है। फिर जीवन के प्रभात के पीछे संध्या और दिन के पीछे रात है और एक के बाद एक बीतते ही चले जाते हैं। मानव-जीवन का उद्देश्य तो कुछ और ही है, वह जिस सुख और शान्ति को चाहता है आखिर वह उसे कैसे और कहाँ मिले?

अन्तर की इस लहर में गत वर्ष पर्यूषण पर्व के अवसर पर हम दोनों भाई सोनगढ़ की ओर चल पड़े। वहाँ पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के दर्शन हुये और लगातार कुछ समय तक उनके कल्याणकारी सत्समागम में रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके जीवन का एक-एक क्षण साधनामय है।

उस समय स्वामीजी के प्रवचन श्री समयसार की ४७ शक्तियों के ऊपर चल रहे थे। उनके मुखारविन्द से उन्हें बड़ी ही सरल और रोचक शैली में सुनकर मन में अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ। उसी समय एक विचार मन में आया कि हम लोग श्री तारणस्वामी के ग्रन्थों के पाठ-

स्वाध्याय कुछ न कुछ प्रतिदिन किया करते हैं, उनके मार्मिक अर्थ का स्वामीजी से उसी सरल और रोचक शैली में कुछ प्रकाश पा सकें तो बहुत अच्छा हो। इसी प्रेरणावश स्वामीजी से प्रार्थना की और उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकृति दे दी।

तदनुसार स्वामीजी ने लगातार आठ दिन तक श्री तारणस्वामी रचित 'ज्ञानसमुच्चयसार', 'श्रावकाचार', 'उपदेश शुद्धसार' एवं 'ममलपाहुड़' आदि ग्रन्थों के विविध प्रसङ्गों पर आत्मविभोर कर देनेवाले सारगर्भित आध्यात्मिक प्रवचन किये। उनकी वाणी से जो अमृत वर्षा हुई, उसका रसास्वादन स्थानीय मुमुक्षु मण्डल के लगभग ५०० श्रोताओं के साथ हम लोगों ने किया। हमारे साथ श्री सेठ चुन्नीलालजी टिमरनी निवासी, पण्डित श्री जयकुमारजी एवं अन्य अनेकों स्थानों से आये हुये सज्जन थे, और सभी को जो आनन्द प्राप्त हुआ, वह अकथनीय है।

स्वामीजी के उपदेश! नहीं, वे तो दिव्य सन्देश हैं 'हे मानव! तेरे स्वात्म में अनन्त शक्ति है, तू कहाँ भूल रहा है? तेरे जीवन का मूल्य लाखों हीरों से बढ़कर है, यदि सम्यक्त्व मार्ग पर तू चल रहा है तो परमपद जो तेरा अन्तिम लक्ष्य है, उसे प्राप्त करने से तुझे कौन रोक सकता है?'

हम जीवन की जिस हाट में सैर कर रहे हैं, केवल इतना तो न भूल जायें कि जो सौदा हमें लेना है, उसे लेने के पहिले ही यह हाट कहीं उठ न जाये। अनेकों हितकारी भाव श्रोताओं के मन में जागृत हुए।

पूज्य गुरुदेव के आठ दिन के वे आठ अमृत प्रवचन अध्यात्म प्रेमियों के लाभार्थ प्रकाशित करा देने की हमारी प्रबल भावना हुई और यह कार्य हमारे आग्रह पर कृपा करके श्री ब्रह्मचारी हरिलालजी ने अत्यन्त लगन और सतत परिश्रम से कुशलतापूर्वक पूरा कर दिया। हम उनके बहुत कृतज्ञ हैं। गुजराती भाषा में यह प्रवचन 'अष्ट प्रवचन' के नाम से पुस्तकरूप में सोनगढ़ से प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी प्रेमी भी इससे

वंचित क्यों रह जायें, अत: यह हिन्दी संस्करण आपके हाथों में है। हिन्दी संस्करण यदि सुन्दर बन सका है तो उसका श्रेय भाई ताराचन्दजी समैया एवं पण्डित परमेष्ठीदासजी ललितपुर को है। विन्ध्याचल प्रकाशन छतरपुर ने इसकी प्रकाशन व्यवस्था का काम अपने हाथों में लेकर हमें बड़ा सहयोग दिया है, तथा प्रवचनों के अन्त में जो 'सम्यक्त्वी के आठ अङ्ग' तथा 'सम्यग्दृष्टि की उज्ज्वल परिणति' का अद्‌भुत वर्णन है, उसका हिन्दी अनुवाद श्री मगनलालजी जैन ने बहुत ही सुन्दर शैली में किया है, अतएव हम उन सबके अत्यन्त आभारी हैं।

'अष्ट प्रवचन' में सम्यक्त्व की विशद एवं सुन्दर व्याख्या की गई है। शुद्धात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन और अनुभूतियों का सुगम चित्रण है, जिनमें अध्यात्मभावों की स्पष्ट झलक पद-पद पर दिखायी देती है। इन प्रवचनों में ग्रन्थकर्ता के मन की विभिन्न भावनायें साक्षात् बोलती प्रतीत होती हैं, जिनका भाववैचित्र्य नि:सन्देह अन्तर्मुखी आनन्द के समीप ले जानेवाला है।

पुस्तक कैसी है, यह तो पाठकों की रुचि-विशेष पर निर्भर करता है, किन्तु हमें यह आशा अवश्य है कि अध्यात्मप्रेमी इससे प्रसन्न होंगे। इसे पढ़कर वे पायेंगे अन्तर के तारों में 'आत्म' की प्रतिध्वनि। इसी विश्वास के साथ आपके हाथों में यह भेंट है कि यदि इससे कल्याणकारी अध्यात्मभावों का कुछ भी प्रसार हो सका तो हम अपने प्रयास में यत्किंचित ही सही, सफल हुये समझेंगे।

सागर,
२४ अप्रैल, १९६४ **भगवानदास शोभालाल जैन**
महावीर जयन्ती दिवस,

[1]

पहला प्रवचन

सम्यक्त्व मङ्गलरूप है

[वीर सं० २४८८-आश्विन कृष्ण ११]

यह 'ज्ञानसमुच्चयसार' पढ़ा जाता है। श्री तारणस्वामी आध्यात्मरसिक थे, उनके द्वारा यह शास्त्र रचा गया है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि दिगम्बर सन्तों की आम्नाय के अनुसार सर्वज्ञान का सार उन्होंने अध्यात्मशैली से दिखाया है। 'ज्ञान-समुच्चयसार' अर्थात् सन्तों का कहा हुआ सर्व श्रुतज्ञान का सार क्या है—यह इसमें दिखाया है।

यहाँ श्री तारणस्वामी रचित ज्ञानसमुच्चयसार में से २५वीं गाथा चलती है, उसमें सम्यक्त्व की महिमा का वर्णन है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में शुद्ध सिद्ध भगवान को नमस्काररूप मङ्गलाचरण किया है एवं शुद्ध आत्मा को, ऋषभादि सर्व तीर्थङ्करों को और पञ्च-परमेष्ठी भगवन्तों को भक्ति के साथ नमस्कार किया है। यहाँ पच्चीसवीं गाथा में जो सम्यक्त्व की प्रशंसा है, वह भी स्वयं मङ्गलरूप है। सम्यग्दर्शन स्वयं ही मङ्गलरूप है। गाथा में पहला शब्द है '**जिन**', वह भी मङ्गलरूप है —

जिन उक्तं शुद्ध सम्यक्तं, साध्यं भव्य लोकयं।
तस्यास्ति गुण निरूपं च, शुद्ध साध्यं बुधेर्जनैः ॥२५॥

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित निर्दोष शुद्ध सम्यग्दर्शन, भव्य जीवों को साधनेयोग्य है। अनन्त गुणों की खानिरूप जो आत्मस्वभाव है, वह सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में झलकता है, शुद्ध सम्यक्त्व और आत्मा का शुद्ध स्वभाव बुधजनों के द्वारा साध्य है। बुद्धिवान सम्यग्ज्ञानी महात्मा, सम्यक्त्व से शुद्ध आत्मा को साधते हैं।

भगवान जिनेन्द्रदेव के आगम का यह उपदेश है कि किसी भी तरह प्रयत्न करके अपने अन्तर में निश्चय अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। जहाँ निश्चयसम्यक्त्व हो, वहीं पर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश अर्थात् प्रगट अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन के द्वारा सम्यग्ज्ञानी महात्मा ही शुद्ध वस्तु को साध्य करते हैं और वे ही मुक्ति पद को पाते हैं।

देखिए! यह निश्चयसम्यक्त्व की महिमा!

श्री तारणस्वामी ने इस गाथा में '**जिन उक्तं**' ऐसा कहकर भगवान का स्मरण किया है। परम वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिन स्वयं मङ्गलरूप हैं, और अपने ज्ञान में उसका जो निर्णय किया, वह भी मङ्गल है। भगवान की आत्मा को द्रव्य-गुण में जिनत्व त्रिकाल था,—परम सर्वज्ञता की सामर्थ्य सर्वज्ञशक्ति में भरी थी, उसको पर्याय में प्रगट करके वे साक्षात् जिन-सर्वज्ञ हुए। ऐसे जिन भगवान के सदृश ही यह आत्मा है। तारणस्वामी बार-बार कहते हैं कि 'अप्पा सो परमप्पा'।

''जिन सो ही है आतमा, अन्य होई सो कर्म,
यही वचन में समज ले, जिन प्रवचन का मर्म॥''

(श्रीमद् राजचन्द्र)

ऐसे जिनस्वरूप आत्मस्वरूप का निर्णय करनेवाले को भगवान

जिनेन्द्रदेव के प्रति बहुमान भक्ति का भाव आता है। सिद्धप्रभु को वाणी नहीं, अरिहन्त जिन को वाणी का योग है, इसलिए '**जिनोक्तं**' कह करके भगवान जिनेन्द्रदेव के उपकार का स्मरण और बहुमान किया है। जो जीव, वीतराग देव के कहे हुए तत्व को समझा है, वह जिनदेव के उपकार को भूलता नहीं है।

जिन भगवान का कहा हुआ शुद्ध सम्यक्त्व ही जगत में सार है; इसके बिना चाहे जितना दूसरा जानपना हो किन्तु शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट न किया तो वह सब निःसार है। शुद्ध सम्यक्त्व का अर्थ है -स्वाश्रित निश्चय सम्यक्त्व। देव-गुरु की ओर के श्रद्धा के राग को सम्यक्त्व कहना, वह अशुद्ध सम्यक्त्व है, व्यवहार है। शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति शुद्ध सम्यक्त्व है, उसके साथ व्यवहार हो भले, किन्तु वह आदरणीय नहीं। एकरूप ज्ञायकभाव-सन्मुख हो करके जो सम्यक् अनुभवसहित प्रतीति होती है, वही शुद्ध सम्यक्त्व है और वही बुधजनों को आदरणीय है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व सहित देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा होना, वह व्यवहार है। व्यवहार पराश्रित रागरूप होने से अशुद्ध है, इसलिए अकेले व्यवहार का राग करते-करते उसके द्वारा शुद्ध सम्यक्त्व हो जाए, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

कारण-कार्य की शुद्धता के बारे में श्री तारणस्वामी ८०वीं गाथा में कहते हैं कि —

कारणं कार्य्य सिद्धं च, तं कारण कार्य उद्यमं।
स कारणं कार्य शुद्धं च, कारणं कार्यं सदा बुधैः ॥८०॥

कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण वह है कि जिससे कार्य सिद्धि का पुरुषार्थ हो सके। यहाँ मोक्ष के साधन में कारण

और कार्य दोनों ही शुद्ध हैं। बुद्धिमान जनों को सदा शुद्ध कारण का सेवन करना चाहिए।

देखो, यह कारण-कार्य की बात! शुद्ध कार्य का कारण भी शुद्ध ही होता है। राग तो अशुद्धता है; राग, कारण और शुद्धता उसका कार्य - ऐसा हो नहीं सकता। अथवा, व्यवहार, वह कारण और निश्चय उसका कार्य - ऐसा भी नहीं होता। व्यवहार करते-करते निश्चय की प्राप्ति हो जाएगी - ऐसा कारण-कार्यपन निश्चय-व्यवहार को नहीं है। मोक्ष तो पूर्ण शुद्धता है, उसका कारण भी शुद्ध (निश्चयरत्नत्रय) ही है *। शुद्ध कारण से शुद्ध कार्य होता है और अशुद्ध कारण से अशुद्ध कार्य होता है। कारण वह है जिसके द्वारा कार्यसिद्धि का उद्यम हो। शुद्ध सम्यक्त्वरूप कार्य, राग से तो सिद्ध नहीं होता; इसलिए राग उसका कारण नहीं। व्यवहार का जो विकल्प है, वह शुद्ध सम्यक्त्व का कारण नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा का अवलम्बन लेने से शुद्ध सम्यक्त्वादि कार्य होता है। यही शुद्ध कारण है। समयसार में आचार्यदेव ने महान सिद्धान्त कहा है कि—

'भूयत्थ मस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो'

भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है। अहा! इस समयसार में तो बहुत शास्त्रों के बीज आचार्यदेव ने बो दिए हैं। ऐसा कभी नहीं बन सकता कि कारण अशुद्ध हो और उसके सेवन से शुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो जाए। राग के सेवन करते-करते शुद्धता कभी भी नहीं हो सकती। श्री जिन भगवान के कहे हुए

---

* **''मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ।**
समजाव्यो संक्षेप मां, सकल मार्ग निर्ग्रंथ॥'' *श्रीमद् राजचन्द्र (आत्मासिद्धि)*

सम्यक्त्व के कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं, उनको जान करके बुद्धिमानों को सदा उनका सेवन करना चाहिए। बुद्धिमान जीवों को, जिज्ञासु जीवों को, आत्मार्थी जीवों को अन्तरस्वभाव-सन्मुख के पुरुषार्थ को शुद्ध कारण समझना चाहिए, और जो पराश्रितभाव हो, उसको अशुद्ध समझ करके उसका सेवन छोड़ना चाहिए।

''निश्चयसम्यक्त्व की बात हमें मालूम नहीं पड़ती, इसलिए पहले सम्यक्त्व के बिना ही व्यवहारचारित्र-महाव्रत ले लो, यह व्यवहारचारित्र करते-करते भविष्य में कभी भी निश्चयसम्यक्त्व हो जाएगा''—ऐसा यदि कोई प्रतिपादन करे तो उसे जिनोक्त सम्यक्त्व की या उसके कारण-कार्य की खबर नहीं है। समयसार हो या ज्ञानसमुच्चयसार हो, भगवान के कहे हुए कोई भी शास्त्र हों, उनमें भगवान के कहे हुए ज्ञान का सार तो एक ही है कि अन्तर्मुख होकर शुद्ध कारण का सेवन करना चाहिए।

'ममलपाहुड' (भाग २ पृष्ठ १५२) में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि यहाँ ध्रुव शब्द का प्रकाश हुआ है अर्थात् ध्रुव शब्द के वाच्य ध्रुव आत्मा का प्रकाश हुआ है। यहाँ समताभावमयी आत्मा के शुद्ध भाव का आनन्द हो रहा है। यहाँ ध्रुव ज्ञान का उदय हुआ है। शुद्ध आत्मा में रमण करना ही ध्रुव आत्मा का दर्शन है। ध्रुव पद-अविनाशी पद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके अनुभवरूप शुद्धोपयोग की अनेक गाथाओं के द्वारा बहुत महिमा बतायी गयी है। स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग में ध्रुव पद प्रगट होता है अर्थात् वह प्रगट अनुभव में आता है। पृष्ठ १४७ में कहते हैं कि ''परम सुखदायी सिद्धपद के लाभ के लिए भव्य जीव का परम कर्तव्य है कि वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्मा का अनुभव करता चला जावे।''

जितना-जितना आत्मानन्द का साधन है, वह विकारों का हटानेवाला है, कषायों का मिटानेवाला है, वही कर्मों की निर्जरा करनेवाला है और वही मोक्षनगर में पहुँचानेवाला है। आत्मानुभव ही यथार्थ मोक्षमार्ग है और जिनधर्म है। आत्मा को छोड़कर और कोई सुन्दर वस्तु नहीं है।

'ध्रुव' शब्द के द्वारा ध्रुव आत्मस्वभाव को प्रकाशित किया है। उस आत्मस्वभाव के सन्मुख होने से समताभावरूप आत्म-आनन्द होता है। ऐसे स्वभाव को भगवान की वाणी ने प्रकाशित किया है। तारणस्वामी कहते हैं कि स्वानुभव ही संसार से तारनेवाला है और स्वानुभवरूप जो मोक्षमार्ग है, उसका गुप्त ज्ञान अनुभवी ज्ञानी सन्तों ने प्रगट किया है। जहाँ अपने को निज स्वभाव का भान हुआ, वहाँ निमित्त से ऐसा भी कहने में आता है कि भगवान की और सन्तों की वाणी ने आत्मा को प्रकाशित किया—ऐसी व्यवहार की रीति है।

ध्रुव आत्मा के प्रकाश से अर्थात् अनुभव से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। ऐसे आत्मा का शुद्ध सम्यक्त्व भव्य जीवों को साधनेयोग्य है। साधनेयोग्य क्या है ?—कि आत्मा का शुद्ध सम्यक्त्व; योग्य सुपात्र जीव उसको साधते हैं। अभव्य जीव ऐसे सम्यक्त्व को कभी नहीं साधते। अज्ञानी शुभराग को-पुण्य को साध्य मानकर उसी में रुक जाते हैं। धर्मात्मा को शुद्ध सम्यक्त्व में ज्ञानपुञ्ज आत्मा झलकता है, प्रतीति में आता है, अनुभव में आता है। बुधजनों को ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व साध्य है। वे शुद्ध स्वभाव के अवलम्बन से शुद्ध का साधन करते हैं। शुद्ध के साधन में अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साधन में राग का-अशुद्धता का अवलम्बन है ही नहीं।

'बुधैः जनैः शुद्धं साध्यं' बुधजनों को अर्थात् बुद्धिमान मुमुक्षु जीवों को शुद्धस्वरूप का ही साधन करना चाहिए। बीच में रागादि आवें, उनको साधन नहीं माने और न उनको साध्य भी करना चाहिए। जो जीव, राग को शुद्धता का साधन मानता है, वह वास्तव में बुद्धिमान नहीं है किन्तु मूर्ख है। श्रद्धा में, ज्ञान में एवं चारित्र में साध्य तो शुद्ध आत्मा ही है। सम्यग्ज्ञानी महात्माओं ने शुद्ध वस्तु ही साध्य की है। अन्तरङ्ग में ऐसे शुद्ध वस्तुस्वभाव की प्रतीत करने से शुद्ध सम्यक्त्व होता है, यही प्रथम कर्तव्य है और वह मङ्गल है।

मोक्षार्थी को सबसे पहले सम्यग्दर्शन आवश्यक है। बिना सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग में एक डग भी नहीं चला जा सकता। ज्ञान और व्रत-तप सबके सब सम्यग्दर्शन के बिना नीरस हैं, निःसार हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व की श्रेष्ठता जानकर मुमुक्षु को उसके लिए प्रयत्न करना कर्तव्य है। किसको सम्यग्दर्शन होता है, यह बात छब्बीसवीं गाथा में कहते हैं —

तं सम्यक्त्वं उक्तं शुद्धं केरि संकेन रूवं।
तं सम्यक्त्वं तिष्ठियत्वं कथ्यवासं वसंतं॥
उत्पन्ने कोपि स्थानं श्रेष्ठ प्रौढ प्रमाणं।
तं सम्यक्त्वं कस्य क्रान्तं कस्य दृष्टि प्रयोजनं॥२६॥

वह सम्यक्त्व निश्चय से शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है, तीन भुवन में वह श्रेष्ठ है। वही सम्यक्त्व शुद्ध कहा जाता है कि जहाँ आत्म-स्वरूप में कोई शङ्का नहीं है। ऐसे सम्यक्त्व में स्थिर-दृढ़ रहना चाहिए। इस सम्यक्त्व की उत्पत्ति किसी भी स्थान में हो सकती है। चाहे भगवान के समवसरण में हो या नरकवास में हो, किसी

भी स्थान में हो किन्तु अन्तर्मुख स्वभाव में दृष्टि करके निःशङ्क प्रतीत करने से किसी भी स्थान में सम्यग्दर्शन होता है। गृहवास में हो या स्त्री पर्याय में हो, उसे भी शुद्ध आत्मा के साधन से सम्यक्त्व होता है। वह सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है, प्रौढ है अर्थात् विवेक से भरा है, भेदज्ञानरूप विवेक सहित है एवं प्रमाणरूप है। बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान या चारित्र कोई प्रमाणरूप नहीं। सम्यग्दर्शन सहित हो, तब ही प्रमाणरूप है। ऐसे शुद्ध सम्यक्त्व का प्रकाश किसी बिरले जीव को ही होता है। किसी विरले जीव की ही दृष्टि अपने अर्थ के ऊपर-प्रयोजनभूत वस्तुस्वभाव के ऊपर जाती है। सम्यग्दर्शन परम अद्‌भुत रत्न है, किसी निकट मोक्षगामी भव्यजीव को वह प्रगट होता है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करके दृढ़ता से उसकी आराधना करनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टि यथार्थ वस्तुस्वरूप को देखता है, मिथ्यादृष्टि अर्थ का अनर्थ करके वस्तुस्वरूप को विपरीत मानता है, वस्तुस्वरूप को मानना या विपरीत प्ररूपण करना चोरी है —ऐसा तारणस्वामी गाथा ३५० में कहते हैं, देखिए —

स्तेयं पद रहियं, जिन उक्तं च लोपनं जाने।
अनेय व्रत धारी स्तेयं सहाब रहियेन॥३५०॥

आगम के पदों का कुछ का कुछ विपरीत अर्थ करके जिनोक्त कथन को लोपना-छिपाना, इसे चोरी जानो। और आत्मस्वभाव में रमणतारहित एवं आत्मज्ञान से शून्य होने पर भी, अनेक व्रत आदि धारण करके अपने को मुनि समझना, यह भी चोरी है। उसने कौन-सी चोरी की? उसने वीतरागी स्वभाव की चोरी की। व्रतादि राग को धर्म मान करके वह अपनी आत्मा को ठगता है, इससे वह

चोर है। मिथ्यात्वसहित होने पर भी जो अपने को व्रती या साधु मानता है, वह अपनी आत्मा को ठगता है और व्रत के तथा साधुदशा के यथार्थ स्वभाव का लोप करता है, इससे वह चोर है और अपने को साधु मनवाकर दूसरे लोगों को भी वह ठगता है।

देखो! यह परमार्थ चोरी की व्याख्या!! जिनोक्त अर्थ का लोपन करना चोरी है, अर्थात् मिथ्यात्व ही बड़ी चोरी है। 'जिनोक्तं..... जिनोक्तं' ऐसा स्थान स्थान पर कह करके तारण स्वामी ने जिनेन्द्र भगवान का बहुमान किया है। जिनोक्तं अर्थात् जिन भगवान के कहे हुए आगम के यथार्थ कथन को और उसके भावों को छिपाना-लोपना-अन्यथा निरूपण करना, सब चोरी है।

गाथा ३५१ में भी कहते हैं कि —

स्तेयं अज्ञानं, ज्ञानमय अप्प सहाव गोपंति।
अज्ञानं मिच्छत्तं, तिक्तं स्तेय विषय सुह रहियं॥३५१॥

अज्ञान है, वह चोरी है। ज्ञानमय अपने आत्मस्वभाव का गोपन करता है, इसलिए अज्ञान ही बड़ी चोरी है। राग से धर्म माननेवाला जीव, भगवान के मार्ग का बड़ा चोर है। वह चैतन्य निधान को लूट रहा है। राग से धर्म मानने से चैतन्य निधान का लोप होता है। स्वकीय शुद्ध आत्मा को भगवान ने जैसा कहा, वैसा जाने नहीं, मानें नहीं और व्रतादिक शुभराग से ही अपने को धर्मी या मुनि मान ले तो वह जिनशासन का चोर है। जिनशासन में तो भगवान ने व्रत-पूजादि को पुण्य कहा है और मोहरहित आत्म-परिणाम को ही धर्म कहा है। इनसे जो विपरीत मानता है, वह चोर है। उसने स्वभाव की बड़ी चोरी की है। राग से धर्म मानकर उसने आत्मा

के ज्ञान-स्वभाव का गोपन किया, इतना बड़ा और कोई पाप नहीं। स्वभाव की आराधना से रहित वह जीव अपराधी है—दोषी है।

इसी प्रकार ही 'असत्य' की व्याख्या करते हुए गाथा ८४ में तारण-स्वामी कहते हैं कि —

मिथ्या मिथ्या मयं दृष्टं, असत्य सहित भावना।
अनृतं अचेत दिष्टन्ते, मिथ्यातं निगोयं पतं॥८४॥

मिथ्यात्व से जिसकी दृष्टि अन्ध है—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, पदार्थों के स्वरूप को विपरीत ही देखता है, इससे वह असत्य पदार्थो को ही भाता है। मिथ्या अभिप्राय से वस्तुस्वरूप को जो मिथ्या देखता है और मिथ्या निरूपण करता है, वह बड़ा असत्यवादी है, उसका सब कुछ अज्ञान ही अज्ञान है, सब झूठ है। उसको अचेतन और रागादि परभाव ही अपने भासते हैं किन्तु अपना चेतनवन्त स्वभाव उसको भासता नहीं। ऐसा जीव असत्य भाव के सेवन से निगोद में रुलता है, उसकी ज्ञानपर्याय अत्यन्त हीन हो जाती है।

देखिए! यह मिथ्या अभिप्राय का फल! सर्व पापों में बड़ा पाप मिथ्यात्व है और उसका फल भी बहुत बुरा है। कहाँ तो मनुष्य पर्याय और कहाँ निगोद की एकेन्द्रिय पर्याय? इसलिए मिथ्यात्व जैसे महापाप से बचने के लिए बुधजनों को चाहिए कि वे स्वभाव के उद्यम से शुद्ध सम्यक्त्व की साधना करें।

गाथा ८५ में भी कहते हैं कि —

शुद्ध तत्व स्वयं रूपं, मुक्ति पथ जिन भासितं।
अन्यो अज्ञान सद्भावं, मिथ्या व्रत तपः क्रिया॥८५॥

शुद्ध आत्मिक तत्त्व, जो अपना ही स्वभाव है, उसी में लीनता मोक्ष का मार्ग है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; इससे अन्य जो कोई मार्ग है, वह अज्ञानस्वरूप है। आत्मानुभव शून्य व्रत, तप, चारित्र सब मिथ्या है।

मिथ्यादृष्टि का दोष जन्मान्ध से भी बहुत बड़ा है, क्योंकि जन्म से अन्धा तो पदार्थ को देखता नहीं है, किन्तु यह मिथ्यादृष्टि तो चक्षु के होने पर भी पदार्थ के स्वरूप को विपरीत देखता है और अर्थ का अनर्थ करता है। इस तरह मिथ्यात्व ही बड़ा असत्य है। सम्यक्त्व के द्वारा उस असत्य का महापाप छूट जाता है।

वह शुद्ध सम्यक्त्व ही है, जिसमें किसी तरह की शङ्का नहीं। जहाँ निज स्वरूप परमात्मा को स्वानुभवपूर्वक निःशङ्क दृष्टि में लिया, वहाँ धर्मी को उसमें बिल्कुल शङ्का नहीं रहती —ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व है। 'मैं ही परम रूपधारी परमात्मा हूँ', —ऐसी दृष्टि में धर्मी को जरा भी शङ्का नहीं उठती। ऐसे स्वरूप की निःशङ्क श्रद्धा करके उसी में जम जाना, यह धर्मी का कर्तव्य है।

ऐसा निःशङ्क श्रद्धारूप सम्यक्त्व, भगवान के समवसरण में भी होता है और सातवें नरक में भी होता है, देव को भी होता है और तिर्यंच को भी होता है, भोगभूमि हो या कर्मभूमि, विदेहक्षेत्र हो या भरतक्षेत्र, म्लेच्छखण्ड हो या आर्यखण्ड, पुरुष हो या स्त्री-किसी भी जगह योग्य भव्यजीव को सम्यक्त्व हो सकता है। विरले ही जीव अन्तर स्वभाव के साधन से सम्यक्त्व प्रगट करते हैं।

अहा! यह शुद्ध सम्यक्त्व तीन लोक में श्रेष्ठ है, सारभूत है, प्रौढ है—महान है, प्रमाणरूप है एवं जिसने ऐसा सम्यक्त्व प्रगट किया,

वह धर्मात्मा भी जगत में श्रेष्ठ है। चाहे वह स्त्री पर्याय में हो तो भी वह श्रेष्ठ है, वह सारभूत है, वह प्रौढ़ है—महान विवेकी है और वह प्रमाण रूप है। इस शुद्ध सम्यक्त्व को सार कहने से ऐसा समझ लेना चाहिए कि जो राग है, वह सार नहीं है। व्यवहार है, वह भी सार नहीं, श्रेष्ठ नहीं, प्रौढ़ नहीं है।

ऐसा महिमावन्त सारभूत उत्तम शुद्ध सम्यक्त्व कोई सुदृष्टिवन्त विरले जीव को होता है, किसी विरले जीव की ही दृष्टि-शुद्ध तत्व के ऊपर जाती है और उसी को सम्यक्त्व होता है। 'अप्पा सो परमप्पा' ऐसी धर्मी की दृष्टि है—यह बात श्री तारण स्वामी ने बार-बार बतलायी है।

२७वीं गाथा में सम्यक्त्व की महिमा और भी बताते हैं—

तं सम्यक्त्वं शुद्ध बुद्धं, तिहुवन गरुवं, अप्प परमप्प तुल्यं।
अव्वावाह अनंतं, अगुरुलघु स्वयं सहजानंदरूपं॥
रूपातीतं व्यक्तरुपं, विमलगुणनिहि, ज्ञानरूपं स्वरुपं।
तं सम्यक्त्वं तिष्ठियत्वं, तिअर्थ समयं, सम्पूर्ण शाश्वत पदं॥२७॥

वह सम्यक्त्व निश्चय से शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है, शुद्ध-बुद्ध स्वरूप आत्मा की प्रतीतरूप सम्यक्त्व है, वह तीन लोक में श्रेष्ठ है, वह 'अप्प परमप्प तुल्यं'—अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा के तुल्य देखता है, उसमें छोट-बड़े की कल्पना नहीं। देखो! सम्यक्त्व कैसे आत्मा की श्रद्धा करता है, यह दिखाया है। अपनी आत्मा को परमात्मा के बराबर देखते हैं, उसमें रंचमात्र अन्तर नहीं। कैसा है आत्मा? बाधा रहित है, अनन्त शक्ति से भरपूर है, स्वाभाविक आनन्दस्वरूप है—ऐसे आत्मा की प्रतीत भी आनन्द के अनुभव सहित है। आत्मा पौद्‌गलिक रूप से भिन्न अमूर्त-

अरूपी है-रूपातीत है, ऐसे आत्मा प्रगट होता है, वह रूप से अगोचर होने पर भी स्वानुभव से व्यक्त-प्रगट होता है। 'स्वानुभूत्या चकासते' ऐसा जो समयसार के मांगलिक में ही आचार्यदेव ने कहा है, वही बात तारणस्वामी ने यहाँ दिखायी है। अनन्त निर्मल शक्तियों के निधान आत्मा में हैं। उस निधान को स्वानुभव के द्वारा सम्यग्दृष्टि खोलता है। स्वानुभव में अपनी आत्मा को ज्ञानाकार स्वरूप से वह अनुभवता है। ऐसे शुद्ध आत्मा की प्रतीतरूप सम्यक्त्व प्रगट करके बुधजनों को उसी सम्यक्त्व भाव में स्थिर रहना चाहिए। ऐसे सम्यक्त्व के परिणमन से त्रिरत्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय आत्मा पूर्ण अविनाशी पद में विराजित होकर झलक उठता है।

देखिए! यह निश्चयसम्यक्त्व और उसका फल! शुद्ध सम्यक्त्व कहो या निश्चयसम्यक्त्व कहो (दोनों एकार्थ हैं)। सर्व पदार्थों में सारभूत शुद्ध अविनाशी एक सर्वज्ञ पद है, और वह सर्वज्ञ पद अपने स्वरूप में ही है। ऐसे निज स्वरूप का ध्यान, यह धर्मी का ध्येय है।

गाथा ५९ में कहते हैं कि —

शुद्धं च सर्वशुद्धं, च सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।
शुद्धात्मा शुद्ध ध्यानस्य, शुद्धं सम्यग्दर्शनं॥५९॥

सर्व पदार्थों में शुद्ध और सर्व पदार्थों में उत्तम सर्वज्ञस्वरूप एक अविनाशी शुद्ध चैतन्य पद है, वह ही शुद्ध ध्यान के विषयरूप -ध्येयरूप शुद्ध आत्मा है और ऐसे शुद्ध आत्मा का ध्यान, वही शुद्ध सम्यग्दर्शन है, ऐसा शुद्धात्मा ही धर्मी का ध्येय है। धर्मी का ध्येय निज स्वरूप है, वह शुद्ध है। अशुद्धता (राग या व्यवहार)

वह धर्मी का ध्येय नहीं, उसके आश्रय से किञ्चित् भी लाभ नहीं। सम्यग्दर्शन निश्चय से शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है और वह तीनों लोक में महान है। ''अप्प परमप्प तुल्यं'' ऐसा वह देखता है अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मस्वरूप से वह प्रतीत में लेता है।

ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व निर्बाध है, उसको बाधा पहुँचाने में जगत में कोई समर्थ नहीं। वह स्वाभाविक सहज आनन्द के अनुभवस्वरूप है। अहा! सम्यग्दर्शन अतीन्द्रिय आनन्द से भरा है। सम्यग्दर्शन अपने रूपातीत-अतीन्द्रिय आत्मा को अपने अन्त:स्तल में देखता है। रूप से अतीत एवं राग से भी पार,-किन्तु चैतन्य रूप में व्यक्त-अनुभवगम्य जिसका रूप है - ऐसा शुद्ध आत्मा सम्यग्दृष्टि के ध्यान का विषय है। वह पुद्गल के रूप से पार है, परन्तु स्वकीय चैतन्यरूप से व्यक्त अनुभव में आता है। वह आत्मा विमल गुणों का निधि है। जैसे खानि में से, निधि में से वस्तु निकालते ही रहो, फिर भी वह कभी खाली नहीं होते; वैसे ही चैतन्य-निधान में से निर्मल पर्यायें लेते ही रहो किन्तु वह कभी खाली नहीं होता। ऐसे अनन्त निर्मल गुणों को निधान अपने आत्मा में भरा है, उसको सम्यग्दृष्टि देखता है। परमात्मपन मेरे में ही भरा है, मेरा आत्मा ही परमात्मस्वरूप है, मेरे आत्मा के गर्भ में ही परमात्मपन भरा है—ऐसे स्वसंवेदन से धर्मी जीव अनुभवता है। श्री तारणस्वामी कहते हैं कि ऐसे शुद्ध आत्मा की प्रतीत करके शुद्ध सम्यक् भाव में निरन्तर रहना चाहिए। शुद्ध द्रव्यस्वभाव की सन्मुखता से दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित आत्मा पूर्णानन्द में विराजमान होकर अत्यन्त झलक उठता है।

[2]

दूसरा प्रवचन

सम्यक्त्व के उद्यम का सन्तों का सबसे प्रथम उपदेश है

[वीर सं० २४८८-आश्विन कृष्ण १२]

धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान-चारित्र और तप ही सम्यक् होता है। इसलिए यहाँ श्री तारणस्वामी ने सम्यग्दर्शन की महिमा दिखायी है और उसका मुख्य उपदेश दिया है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। इसलिए सबसे पहले सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करना कर्तव्य है। गाथा १७५ में तारणस्वामी कहते हैं कि बुधजनों को प्रथम सम्यक्त्व का उपदेश करना चाहिए—

प्रथमं उपदेश सम्यक्त्वं, शुद्ध धर्मं सदा बुधैः।
दर्शन ज्ञान मयं शुद्धं, सम्यक्त्वं शाश्वतं ध्रुवं॥१७५॥

बुधजनों को सदा ही प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन, आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय शाश्वत आत्मा की प्रतीति ही सम्यक्त्व है।

देखो! बुधजनों को प्रथम उपदेश सम्यक्त्व का करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के पहले व्रतादि नहीं होते। आत्मार्थी जीवों को पहले आत्मा की पहिचान का प्रयत्न करना चाहिए तथा उसी का उपदेश सुनना चाहिए।

कोई ऐसा कहे कि व्रतादि करते-करते कभी सम्यक्त्व हो जाएगा—तो उसका उपदेश यथार्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है? अर्थात् मेरा शुद्ध आत्मा विभाव से पृथक कैसा है—इसकी पहिचान के बिना स्थिरता कहाँ करेगा? सम्यग्दर्शन के बिना शुद्धात्मा में एकाग्रता नहीं होती, और एकाग्रता के बिना मुनिधर्म या श्रावकधर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार मुनिधर्म और श्रावकधर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। कोई राग में-विकल्प में या बाहर की क्रिया में सम्यग्दर्शन नहीं। दर्शन-ज्ञानमय अविनाशी ध्रुव शुद्ध आत्मा है, उसका 'गुण' सम्यक्त्व है। गुण का अर्थ निर्मल परिणति है। गुण त्रिकाल होता है और उसकी निर्मल परिणति नई प्रगट होती है।

ऐसा महिमावन्त शुद्ध सम्यक्त्व प्रथम कर्तव्य है —ऐसा कहकर श्री तारणस्वामी उसकी विशेष महिमा २८वीं गाथा में दिखाते हैं—

सम्यक्तं शान्त दांतं, वसति भुवनिहि उड्ढगामी स्वभावो।
उत्पन्नं णंत रूपं, विमलगुणनिहि स्वयं स्वयंमेव तत्त्वं॥
सम्यक्तं स्थान शुद्धं, निवसति भुवनिहि पंचदीप्ति परस्थितं।
सम्यक्तं ऊर्द्ध ऊर्द्ध, कदलि पुलिनं गगन गमन स्वभवं॥२८॥

यहाँ कहते हैं कि सम्यक्त्व निश्चय से शान्तिमय है और इन्द्रियदमनरूप है। चाहे त्यागी होकर जंगल में रहे किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना सच्ची शान्ति या इन्द्रियदमन नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य विषयों से अथवा राग से सुखबुद्धि नहीं हटती और इन्द्रियदमन नहीं होता। जगत् की निधि सम्यग्दर्शन में बसती है।

वाह! देखो यह सम्यग्दर्शन की महिमा! सम्यग्दर्शन होते ही जगत की सर्वोत्कृष्ट निधि प्राप्त हो गयी। त्रिभुवन का सबसे श्रेष्ठ

निधान सम्यग्दर्शन में बसता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वयं ही जगत में सच्चा भण्डार है और वह सम्यग्दर्शन ऊर्ध्वगामी स्वभाववाला है। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव ऊँची-ऊँची दशा पाता जाता है और उसकी शुद्धता बढ़ती जाती है; इस तरह सम्यग्दर्शन का स्वभाव उन्नतिशील है।

सम्यग्दर्शन में चैतन्य की अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन होता है, इससे सम्यग्दर्शन शान्तिमय है। सम्यग्दर्शन हो और चैतन्य की अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन न हो—ऐसा नहीं बनता। अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप चैतन्यस्वरूप की शान्ति सम्यग्दर्शन होते ही अनुभव में आती है और वहाँ पाँचों इन्द्रियों का दमन हो जाता है। सम्यग्दर्शन होने पर जितेन्द्रियपन कहा है। भावेन्द्रियों, द्रव्येन्द्रियों और उनके समस्त विषयों से भिन्न अखण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रतीति में आते ही इन्द्रिय-विषयों में किंचित् भी एकत्वबुद्धि नहीं रहती, अर्थात् श्रद्धा में इन्द्रियदमन हो जाता है। भले ही अस्थिरता का राग हो, इन्द्रिय-विषयों से सर्वथा विरति न हुई हो, तो भी श्रद्धान में तो इन्द्रियों से भिन्न अतीन्द्रिय ज्ञानमूर्ति आत्मा प्रतीति में आया है, इन्द्रियों से अधिकता अर्थात् भिन्नता भासित हुई है, इससे उन्हें इन्द्रियों का दमन हो गया है।

अहा! सम्यग्दर्शन होते ही सच्चा चैतन्य निधान उसके अनुभव में आ गया है। जगत् का सम्पूर्ण खजाना-सच्चे निधान-चैतन्य में भरा है। सम्यग्दर्शन से उसकी प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन होते ही आपने-अपने चैतन्य निधान को अपने में ही देखा; अब उसमें एकाग्रता से शान्ति बढ़ती जाएगी।

अहो! भगवान सन्तों ने जगत का निधान खोल दिया है।

अपना निधान तो अपने पास में ही है, किन्तु उसका भान नहीं था, सन्तों ने उसकी पहचान करायी है। एकरूप आत्मा प्रतीति में आने से जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ कि आत्मा ऊर्ध्वता करते–करते केवलज्ञान पाकर के मुक्त होगा। इस तरह सम्यग्दर्शन, ऊर्ध्वगामी है। सम्यग्दर्शन होने के बाद आत्मा अधोगति में नहीं रुलता, वह चार गतियों में नहीं पड़ता, किन्तु शुद्धता में ऊँचा–ऊँचा चढ़ता हुआ ऊर्ध्वगतिरूप सिद्धपद को पाता है —मुक्त होता है।

सम्यग्दर्शन निर्मल चैतन्य गुणों की खान है। ज्ञान, चारित्र, तप, संयम, वैराग्य, इन्द्रियदमन या संवर–निर्जरा–मोक्ष, ये सब सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं। 'जहाँ चेतन वहाँ अनन्त गुण, बोले केवली यह'—ऐसे अनन्त गुणों का निधान सम्यग्दृष्टि अपने में ही देखता है। ऐसा सम्यग्दर्शन आप अपने स्वानुभवरूप है। सम्यग्दर्शन में निज तत्त्व का स्वयं अनुभव है। यह अनुभव अपने से ही होता है। किसी निमित्त से या विकल्प से यह अनुभव नहीं होता। समयसार के मांगलिक में कहा है कि '**स्वानुभूत्या–चकासते**'— शुद्ध आत्मा स्वयं अपने स्वानुभव से प्रसिद्ध होता है, अपने से ही अपना अनुभव होता है। राग से शुद्धात्मा का अनुभव या सम्यग्दर्शन नहीं होता। शुद्ध चैतन्य की प्रतीति के प्रयत्न में अशुद्धता का सहारा है ही नहीं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों शुद्धतारूप हैं और वही मोक्ष का कारण है। वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, शुद्ध आत्मा के ही अवलम्बन से होते हैं। अन्तर्मुख होकर निजतत्त्व का निरालम्बी अनुभव करे, तब सम्यग्दर्शन होवे और इसके बाद ही श्रावक का पञ्चम या मुनि का छठवाँ–सातवाँ गुणस्थान हो सकेगा। सम्यग्दर्शन के बिना व्रती या मुनि नाम धारण

कर बैठे और व्रत-महाव्रत पाले तो भी उसका सब मिथ्या है। उसकी श्रद्धा मिथ्या, उसका ज्ञान मिथ्या, उसका आचरण मिथ्या, उसका तप मिथ्या, उसका व्रत-तप-त्याग सब ही अरण्यरोदन के समान निष्फल है, मिथ्या है।

श्री तारणस्वामी कहते हैं कि हे भाई! तेरे बैठने का शुद्ध स्थान तो यह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से तेरे शुद्ध आत्मा को प्रतीति में लिये बिना तू कहाँ बैठेगा और कहाँ जमेगा? और किसके आधार पर तू धर्म करेगा? तेरे बैठने का स्थान तो चैतन्यधाम है; इसलिए उसको प्रतीति में लेकर के उसमें बैठना (स्थिर रहना) चाहिए। चैतन्य की गद्दी (बैठक) के ऊपर बैठने से मोक्षमार्ग का व्यापार होता है, किन्तु राग की गद्दी के ऊपर बैठने से मोक्षमार्ग का व्यापार नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग के व्यापार की गद्दी (बैठक) चैतन्यधाम में है। ऐसे चैतन्यधाम की प्रतीति में लानेवाला सम्यग्दर्शन भी शुद्ध स्थान है। राग को तो अपद कहा है और सम्यग्दर्शन निज पद है।

फिर भी कहते हैं कि जगत की निधि सम्यग्दर्शन में रहती है, लोक की परमार्थ निधि सम्यग्दर्शन में रहती है। पञ्च परमेष्ठी का वास भी उसी में है, अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक ही पञ्च परमेष्ठी पद की प्राप्ति होती है। पञ्च परमेष्ठी की सच्ची पहिचान भी सम्यग्दृष्टि को ही होती है, इससे सम्यग्दृष्टि के हृदय में पञ्च-परमेष्ठी का वास है। अथवा 'पञ्चदीप्ति' कहने से पञ्चम ज्ञानज्योति (केवलज्ञान-ज्योति) का प्रकाश भी सम्यग्दर्शन से ही होता है।

सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ में श्रेष्ठ है, ऊर्ध्व में ऊर्ध्व है, सब गुणों में मुख्य अर्थात् पहला सम्यग्दर्शन ही है; उसके बिना ज्ञान-चारित्र आदि कोई भी गुण नहीं होते। मोक्षमार्ग में सबसे पहले सम्यग्दर्शन होता

है, उसके पीछे-पीछे दूसरे गुण प्रगट होते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सर्व गुणों में ऊर्ध्व है-श्रेष्ठ है-मुख्य है।

श्री तारणस्वामी ने निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप बहुत अच्छा दिखाया है। इन्द्रियों और मन से पार होकर के अपने आप में एकाग्रता से स्वानुभव करे, तब निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और उसमें सिद्ध-समान आत्मा का अनुभव होता है—'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। जिस महानुभाव के अन्तर में ऐसा सम्यग्दर्शन रूपी रत्न विराजमान है, वह जगत में सबसे बड़ा धनवान है, वह जगत में श्रेष्ठ है।

वह सम्यग्दर्शन सम्यग्दृष्टि के हृदय कमल में ऐसा सोहता है — जैसा कि कमल पत्र के ऊपर स्थित जल की बूँद। या कि जैसे पानी के बीच में कमल पत्र अलिप्त रहता है। और वह '**गगन गमन स्वभावी**' है अर्थात् आकाश की तरह निर्मल भावरूप परिणमन करने का उसका स्वभाव है। (गमन का अर्थ परिणमन होता है।) जैसे आकाश को मैल या रंग नहीं लगता; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन में परभावरूपी मैल नहीं लगता। राग होने पर भी, सम्यक्त्व की परिणति उससे अलिप्त रह करके निर्मलरूप से ही परिणमती है। ऐसा सम्यग्दर्शन का उद्यम करना प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन कमलपत्र की तरह निर्लेप स्वभावी है और आकाश जैसे निर्मल परिणामवाला है, उसमें राग का रंग नहीं लगता। प्रथम ऐसे सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करे, यही सन्तों का उपदेश है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का उपदेश यथार्थ होता है। सम्यग्दृष्टि चाहे अव्रती हो या गृहस्थ हो किन्तु उसका उपदेश अनुभवसहित प्रमाणरूप होता है, क्योंकि उसका ज्ञान सच्चा है।

गाथा १६८-१६९ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि —

अविरतं शुद्धदृष्टी च, उपादेय गुन संजुतं।
मतिज्ञानं च संपूर्णं, उपदेश भव्य लोकयं॥१६८॥

उपदेशं जिन उक्तं च, शुद्ध तत्व समं ध्रुवं।
मिथ्या मयं न दिष्ठंते, उपदेश शाश्वतं पदं॥१६९॥

अविरत सम्यग्दृष्टि भी उपादेय गुणों का धारक होता है, उसको यथार्थ मतिज्ञान होता है, हेय-उपादेय तत्व के ज्ञान में वह पूरा है और भव्य जीवों के प्रति उसका उपदेश यथार्थ होता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, जैसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, वैसा ही यथार्थ उपदेश होता है। अविनाशी शान्त, शुद्ध आत्मतत्व का यथार्थ उपदेश उसकी वाणी में आता है, उसकी वाणी में मिथ्या उपदेश नहीं होता। वह शाश्वत अविनाशी चैतन्य पद का उपदेश करता है।

देखो! यह सम्यग्दृष्टि की दशा! अविरत सम्यग्दृष्टि को भी मति-श्रुतज्ञान यथार्थ है, सम्यक् है, सम्पूर्ण श्रुत का रहस्य उसके ज्ञान में आ गया है। उसका उपदेश भी भव्य जीवों के प्रति यथार्थ होता है। मिथ्यादृष्टि का उपदेश यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि कदाचित् अव्रती हो, राजपाट में हो, स्त्रीपर्याय में हो, तो भी उसका उपदेश यथार्थ होता है, उसमें एक शब्द का भी विरोध नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान ने जैसा कहा, वैसा यथार्थ उपदेश वह देता है,— मानों भगवान ही उसके हृदय में विराजकर बोलते हैं। धर्मात्मा के हृदय में जिनेन्द्रदेव का वास है; इसलिए जिनेन्द्रदेव के उपदेश में और उसके उपदेश में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। **भावश्रुत से शुद्धात्मा को जाननेवाले समकिती को तो 'श्रुतकेवली' कह दिया है, सर्व श्रुतज्ञान का सार उसने जान लिया है।** *(समयसार, गाथा ९)*

शुद्ध चैतन्यतत्व, राग से पृथक् है, उसको राग से लाभ मानना और राग की / पुण्य की वाँछा करना, वह मिथ्यादृष्टि का अनन्त लोभ है। श्री तारणस्वामी अध्यात्म शैली से लोभ आदिक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि —

लोभं पुन्यार्थं जेन, परिणामं तिष्ठते सदा।
अनंतान लोभ सद्भावं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं॥१२४॥

पुण्य की प्राप्ति के लिए जिसके अन्तर में सदा ही लोभ रहता है, उसको अनन्तानुबन्धी लोभ का सद्भाव जानो। सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धदृष्टि से पुण्य का भी लोभ छोड़ देता है। '**अनिच्छक कहा अपरिग्रही, ज्ञानी न इच्छे पुण्य को**'—ऐसा समयसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने उपदेश किया है। यही बात यहाँ श्री तारण स्वामी ने कही है। पुण्य की इच्छारूप मलिन परिणाम भी अनन्त लोभ है। ऐसा लोभ जिसको है उसको अनेक प्रकार के नास्तिक भाव के विचार आते हैं। शुद्ध आत्मा की यथार्थ विचारणा उसको नहीं जागती। इसलिए ऐसे परभाव की रुचिरूप लोभ को छोड़कर शुद्ध सम्यक्त्वभाव को ग्रहण करो, क्योंकि अनन्तानुबन्धी लोभसहित अर्थात् राग में लोभबुद्धिसहित चाहे जितना शास्त्र पढ़ा जाए, जितना तप तपा जाए और व्रतादि का पालन किया जाए तो भी आत्मज्ञान के बिना वह सब व्यर्थ है; इसलिए शुद्धदृष्टि के द्वारा ऐसा लोभ छोड़ देना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध साधन करता है; वह राग को साधन नहीं मानता। पुण्य की वाँछा करना या उसको धर्म का साधन मानना, वह अनन्तानुबन्धी कषाय का कार्य है। सम्यग्दृष्टि कभी भी पुण्य को धर्म का साधन नहीं मानता; इसलिए उसके अभिप्राय में पुण्य की वाँछा नहीं होती।

'व्यवहार का अवलम्बन करते-करते निश्चय मार्ग की प्राप्ति हो जाएगी'—ऐसा माननेवाला राग से लाभ मानता है। राग से-पुण्य परिणाम से हित मानकर उसकी वांछा करना, वह पुण्य का लोभ है और वह लोभ अनन्तानुबन्धी है।

जिसका परिणाम सदा पुण्य की रुचि में ही लगा रहता है और जो चैतन्य की रुचि का परिणाम नहीं करता है, वह अनन्त लोभी है। ऐसा अनन्तानुबंधी लोभसहित मिथ्यादृष्टि जीव शास्त्र पढ़े-पढ़ावे या त्यागी होकर के व्रत-तप करे तो भी उसे छोड़ देना योग्य है, उसकी श्रद्धा छोड़ना योग्य है। वीतरागता से लाभ है, उसके बदले में जो राग से लाभ मनावे - ऐसे जीवों का संग त्याज्य है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे पुण्य की रुचिरूप अनन्तानुबन्धी लोभ को छोड़ देता है। पुण्य की रुचि को जो नहीं छोड़ता, वह आगम का द्रोही है। भले ही आगम बाँचता हो, किन्तु भीतर के अभिप्राय में से जो राग की रुचि नहीं छोड़ता, वह आगम का द्रोह करता है, आगम की आज्ञा का वह उल्लंघन करता है, भगवान के आगम में उसका प्रवेश नहीं है।

गाथा १११ में कहते हैं कि —

समयं शुद्ध जिन उक्तं, तीर्थ तीर्थ करं कृतं।
समयं प्रवेश येनापि, ते समयं साध्यं ध्रुवं॥१११॥

शुद्ध आगम के वक्ता श्री जिनेन्द्रदेव हैं; तीर्थ अर्थात् संसार से तारनेवाला रत्नत्रय धर्म है, उसका कथन तीर्थङ्कर देवों ने किया है। जिस किसी ने उस जिनागम में प्रवेश किया, उसने निश्चय आत्मा को साध्य किया है। देखो! भगवान के आगम में प्रवेश करनेवाला कैसे होता है?—कि जिसने शुद्ध आत्मा का साधन किया, उसने

ही भगवान के आगम में प्रवेश किया है। भगवान के आगम में शुद्ध आत्मा का अनुभव करने का ही विधान है। जिसने ऐसा अनुभव किया, उसने ही भगवान के आगम में प्रवेश किया और वह ही भगवान के मार्ग में आया। इस तरह भगवान के आगम में वास्तव में समकिती का ही प्रवेश है। तीर्थङ्करों ने आगम में तीर्थ की—रत्नत्रयरूप मार्ग की प्रवृत्ति दिखायी है और उस मार्ग में समकिती का ही प्रवेश है, उसने ही शुद्धात्मा को साध्य करके उसका साधन किया है। जिनागम में प्रवेश करके धर्मात्मा ने क्या निकाला?—ध्रुव साध्य निकाला, शुद्धात्मा को साध्यरूप से प्राप्त किया। जिसने ऐसा साध्य प्राप्त किया, उसने ही जिनागम में प्रवेश किया है।

जो राग का पोषण करे, वह भगवान का आगम नहीं किन्तु कुआगम है। उसका उपदेश मिथ्या है। कोई भी जीव शास्त्र पढ़कर यदि ऐसा आशय निकाले कि राग से लाभ होगा, तो उसने जिनोक्त आगम में प्रवेश नहीं किया, किन्तु मिथ्या आगम में ही प्रवेश किया है। निश्चय शुद्धात्मा का ज्ञान तो जिसमें न हो और किसी भी तरह से राग का पोषण जिसमें किया हो —ऐसे आगम को मिथ्याबुद्धि से लिखा गया मिथ्या आगम समझना चाहिए।

यहाँ तो कहते हैं कि जिनागम में प्रवेश करके जिसने शुद्ध आत्मा को साध्य किया, उसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया और वह जीव, ऊर्ध्वस्वभावी हुआ। सम्यग्दर्शन होने के बाद जीव ऊँचा ही ऊँचा चढ़ता जाता है। सम्यक्त्व में शुद्ध आत्मा का अनुभव झलकता है। स्वभाव की प्राप्ति में (अनुभव में) साधन अपना स्वभाव ही है; दूसरा कोई साधन नहीं। जो रागदि को स्वभाव का साधन कहे, वह

तो राग की रुचि का पोषक मिथ्या उपदेश है; वह भगवान का मार्ग नहीं है। भगवान का मूल मार्ग क्या है - इसकी जगत को खबर नहीं है। **'मूल मारग सांभलो जिननो रे'...** भगवान का मार्ग वीतराग है और उसका प्रारम्भ भी वीतरागभाव से ही होता है। शुद्ध आत्मा को साध्य करने से ही वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है और वही भगवान का मार्ग है।

सम्यक्त्व की विशेष महिमा करते हुए २९वीं गाथा में कहते हैं कि—

सम्यक्तं कलशशशिनं, सयल गुणनिहि भुवनवृन्द प्रवंद्यं।
सम्यक्तं क्रान्ति कान्त्यं, त्रिभुवननिलयं ज्योति रूपस्य क्रान्ति॥
तं सम्यक्तं दृष्टि नत्वं, परमपय ध्रुवं शुद्ध बुद्धं चतुष्ठं।
जोयंतो जोग जुक्तं, समय ध्रुव पदं तत्ववेदैः स्ववेद्यं॥२९॥

देखो, यह सम्यग्दर्शन की महिमा! यह सम्यक्त्व स्वसंवेद्य है, अर्थात् स्वसंवेदनपूर्वक निश्चयसम्यक्त्व होता है। यह सम्यग्दर्शन चन्द्रबिम्ब के समान उज्ज्वल है, सर्व गुणों की खान है, तीनों भुवन के प्राणियों से वन्दनीक है, और उसकी कान्ति से (अर्थात् शोभा से) त्रिभुवन प्रकाशित है। सम्यग्दर्शन की महिमा जगत व्यापी है। ऐसा सम्यग्दर्शन अनुभव करने योग्य है। सम्यग्दर्शन कोई बाह्य क्रिया की या विकल्प की वस्तु नहीं है, वह तो स्वसंवेद्य है। स्वसंवेदनसहित शुद्ध चैतन्य की निर्विकल्प प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है। सर्व ज्ञान का सार स्वसंवेदन में समा जाता है। जैसे पूर्ण चन्द्र का उदय, अन्धकार को दूर करता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का उदय पूर्ण चन्द्र कलश के समान हैं।

सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड पूर्ण आत्मा है, वह सकल

गुणों की खानि है, और सम्यग्दर्शन के पीछे सर्व गुणों की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन तीन भुवन के प्राणियों से बंद्य है, सम्यग्दर्शन धारक जीव भी बंद्य है। सम्यग्दृष्टि चाण्डाल देह में हो तो भी वह प्रशंसनीय कहा गया है। राख से दबी हुई अग्नि के समान उसका चैतन्यमूर्ति आत्मा, देह के नीचे छिपा हुआ है। देव भी उसका आदर करते हैं।

मिथ्यादृष्टि बड़ा त्यागी हो और नौवें ग्रैवेयक तक जावे तो भी उसको प्रशंसनीय नहीं कहते; और सम्यग्दृष्टि चाण्डाल देह में हो तो भी देव-समान है, प्रशंसनीय है। शरीर भले ही स्त्री का हो—(किन्तु आत्मा तो स्त्री कहाँ है?) जिसको सम्यग्दर्शन है, वह जीव जगत में पूज्य है / प्रशंसनीय है।

सम्यग्दर्शन की कान्ति से तीनों जगत प्रकाशमान हैं। जिसने सम्यग्दर्शन किया, उसने अपनी आत्मा में क्रान्ति की; आत्मा की उन्नति की; और 'कान्ति' अर्थात् शोभा भी की। सम्यग्दर्शन की शोभा से—सम्यग्दर्शन के प्रकाश से—सम्यग्दर्शन की कान्ति से जगत प्रकाशित है। जो कुछ भी शोभा जगत में है, वह सम्यग्दर्शन से ही है; सम्यग्दर्शन के बिना जगत में किसी चीज की शोभा नहीं है। चौदह भुवन में सम्यग्दृष्टि की महिमा है —

शूरवीर ....तो सम्यग्दृष्टि!
विवेकी ....तो सम्यग्दृष्टि!
वैरागी ....तो सम्यग्दृष्टि!
पण्डित ....तो सम्यग्दृष्टि!
प्रशन्सनीय ....तो सम्यग्दृष्टि!
धन्य ....तो सम्यग्दृष्टि!
कृत्य-कृत्य ....तो सम्यग्दृष्टि!

इस प्रकार जगत में सर्वत्र सम्यग्दृष्टि की महिमा है। सम्यग्दर्शन-रहित जीव स्वर्ग में भी शोभा नहीं पाते, प्रशंसा नहीं पाते और सम्यग्दर्शनसहित जीव कदाचित् नरक में हो तो भी वह शोभा पाता है—प्रशंसा पाता है। नरक में से निकल करके वह जीव सम्यग्दर्शन के प्रताप से तीन लोक का नाथ होगा; और सम्यग्दर्शनरहित जीव, स्वर्ग में से निकलकर, फिर नरकादि चारों गतियों में रुलेगा। राजा श्रेणिक नरक में गये, किन्तु सम्यग्दर्शन के प्रताप से देवाधिदेव तीर्थङ्कर होंगे और स्वर्ग के इन्द्र आकर उनकी पूजा करेंगे।

सम्यग्दर्शन से ही आत्मा की कान्ति है। आत्मभान के बिना पुण्य से स्वर्ग में जाए तो भी उसमें आत्मा की क्रान्ति या कान्ति (उन्नति या शोभा) कुछ भी नहीं, उसमें तो आत्मा की हीनता और दीनता है। आत्मा की क्रान्ति और शान्ति सम्यग्दर्शन से ही होती हैं; इसलिए मुमुक्षु को ऐसा सम्यग्दर्शन अनुभव करने योग्य है। इसके द्वारा अनन्त चतुष्टयमय उत्तम अविनाशी पद की प्राप्ति होती है। जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ केवलज्ञानादि शुद्ध चतुष्टय आकर विराजते हैं।

सम्यग्दर्शन स्वयं भी अविनाशी सुशोभित पद है और वह आत्मा का सच्चा पद है। रागादिक तो विनाशीक हैं, मलिन हैं, वे आत्मा के पद नहीं और उनमें आत्मा की शोभा नहीं। चक्रवर्ती पद या इन्द्र पद भी क्षणिक संयोगी हैं, उनसे भी आत्मा की शोभा नहीं है। सम्यग्दर्शन पद जगत में श्रेष्ठ है, वह निज पद है और उसमें आत्मा की शोभा है।

सम्यग्दर्शन आगे बढ़ करके अनन्त चतुष्टय का निधान प्राप्त करावेगा। प्रथम ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करना मुमुक्षु का कर्तव्य

है। योगाभ्यास के उपाय से उपयोग को स्वसन्मुख करके चैतन्य में जोड़ने से सम्यग्दर्शन होता है। उपयोग को अन्तर्मुख करके चैतन्यस्वभाव में जोड़ने का ही नाम सच्चा योग है। ऐसे साधन से सम्यग्दर्शन होता है, दूसरा बाहर का कोई साधन नहीं। स्वसन्मुख होकर चैतन्य सागर में डूबकी लगाने से सम्यग्दर्शन का अनुभव होता है। तत्त्वज्ञानियों के द्वारा वह स्वयं अनुभवगम्य है- स्वसंवेद्य है।—'स्वानुभूत्या चकासते' अर्थात् शुद्ध आत्मा, स्वानुभूति के द्वारा प्रकाशमान होता है। यही आत्मा का निश्चय पद है।

अहो! अध्यात्म की भावना में मस्त सन्तों ने बार-बार अध्यात्मरस का घोलन किया है और मुमुक्षुओं को अध्यात्मरस का पान कराया है। श्री तारणस्वामी अध्यात्म के रसिक थे। उन्होंने सभी बातें अध्यात्मशैली से की हैं। जिसको जो जँचता है, वह बार-बार उसकी भावना भाता है, उसमें उसको बेचैनी नहीं लगती। धर्मी जीव बार-बार अन्तर में चैतन्य की भावना करता है, यही उसकी खुराक है। जैसे शरीर के पोषण के लिए लोग रोज-रोज खुराक खाते हैं, उसमें उन्हें अप्रीति नहीं होती; वैसे ही स्वाध्यायादि से आत्मा के आनन्दानुभव में बार-बार उपयोग लगाना आत्मार्थी जीवों की खुराक है, उसमें उन्हें अरुचि नहीं होती। अनादि से पर विषय का अभ्यास है, उसको बदलकर (उलटाकर) स्व-विषय का बार-बार अभ्यास करने से आत्मा स्वानुभवगम्य होता है। ऐसे अन्तर्मुख उद्यम से सम्यग्दर्शन प्रगट करना, यही सन्तों का प्रथम उपदेश है।

[3]

तीसरा प्रवचन

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में अग्रसर है

सम्यक्त्व आचरण प्रथम होता है।
बाद में ही संयम आचारण होता है।

[वीर सं० २४८८-आश्विन कृष्ण १३]

श्री तारणस्वामी रचित ज्ञानसमुच्चयसार में सम्यग्दर्शन का अधिकार चलता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान या चारित्र बिल्कुल नहीं होता। ज्ञान-चारित्र सब सम्यग्दर्शन के बिना व्यर्थ हैं। शुभराग से पुण्य बाँध करके स्वर्ग में जाए तो भी सम्यग्दर्शन के बिना जीव चारों गतियों में भ्रमता है। सम्यग्दर्शन के बिना भव-भ्रमण कभी नहीं मिटता। इसलिए प्रथम (मुख्य) उपदेश सम्यग्दर्शन का है और मुमुक्षु को पहिले उसी का उद्यम करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन क्या है ? यह ३०वीं गाथा में कहते हैं —

सम्यक्त्वं शुद्धगुणं सार्थं, शुद्ध तत्व प्रकाशकं।
शुद्धात्मा शुद्ध चिद्रूपं, शुद्धं सम्यग्दर्शनं॥३०॥

सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मपदार्थ का गुण है, और वह शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रकाशक है। शुद्ध आत्मा शुद्ध चिद्रूप है, उसकी प्रतीति करना शुद्ध सम्यग्दर्शन है। शुद्ध सम्यग्दर्शन कोई बाहर की,

राग की वस्तु नहीं; वह तो आत्मा का ही स्वभाव है। शुद्ध आत्मरूप है। शुद्ध आत्मा का उसी रूप से श्रद्धान और अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। अभेदरूप से ऐसा भी कहने में आता है कि जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही आत्मा है, अर्थात् सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा ही है, कोई भिन्न वस्तु नहीं।

सम्यग्दर्शन शुद्ध आत्मा की परिणति है। गुण की निर्मल परिणति को गुण भी कहने में आता है; इसलिए सम्यग्दर्शन को भी गुण कहते हैं। जो मलिन पर्याय है, वह दोष है और निर्मल पर्याय है, वह गुण है। यह पर्याय तो नई प्रगटती है, परन्तु जो त्रिकाली गुण है, वह नया नहीं प्रगटता, और न उसमें आवरण ही होता है। आवरण होना और प्रगट होना पर्याय में है। गुण की निर्मल पर्याय के प्रगट होने पर ऐसा कहा जाता है कि गुण प्रगटा। मोक्ष या संसार दोनों क्षणिक पर्याय हैं, ज्ञान को आवरण हुआ या ज्ञान प्रगटा – ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव में त्रिकाली शक्तिरूप गुण को न तो आवरण होता है और न वह नया प्रगटता है, मात्र उसकी पर्याय को आवरण होता है और पर्याय प्रगटती है। जहाँ ज्ञानगुण की पर्याय में अवारण हुआ, वहाँ ज्ञानगुण को ही आवरण कह दिया और जहाँ ज्ञानगुण की पर्याय प्रगटी, वहाँ ज्ञानगुण ही प्रगटा – ऐसा कह दिया। उसी तरह सम्यग्दर्शन आदि पर्यायों में भी समझ लेना चाहिए। जितना सम्यग्दर्शन है, उतना ही शुद्ध आत्मा है —ऐसे अभेदपन से सम्यग्दर्शन को ही आत्मा कहा है, क्योंकि वह पर्याय शुद्ध आत्मा के साथ अभेद होकर परिणमी है। समयसार में शुद्धनय की अनुभूति को आत्मा कहा है, और इसी को सम्यग्दर्शन कहा है।

अब, भव्य जीव सम्यक्त्व को साधता है, और शुद्ध तत्त्व को

आचरता है —ऐसा गाथा ३१ में कहते हैं —

सम्यक्त्वं साधते भव्यः, शुद्ध तत्व समाचरतु।
सम्यक्त्वं यस्य तिष्ठंते, तिअर्थं ज्ञान संजुतं॥३१॥

भव्य जीव सम्यक्त्व को साधता है और शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करता है। जिसके हृदय में सम्यक्त्व तिष्ठता है, वह जीव त्रिअर्थ अर्थात् रत्नत्रय एवं केवलज्ञान से संयुक्त होता है। निश्चय -सम्यक्त्व में ज्ञान और चारित्र भी गर्भित है, इसलिए निश्चय -सम्यक्त्व का आराधक जीव अल्प काल में ही अवश्य चारित्रदशा एवं केवलज्ञान प्रगट करेगा। इसलिए भव्य जीवों को ऐसे सम्यक्त्व को साध करके शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करना चाहिए।

अन्तर-सन्मुख पुरुषार्थ से भव्यजीव सम्यक्त्व को साधता है। अन्तर स्वरूप का साधन करने से ही सम्यग्दर्शन होता है। 'जब कर्म हटेगा, तब सम्यग्दर्शन होगा या काललब्धि पकेगी, तब होगा'—ऐसा कहकर जो पराश्रय में रुका रहे, उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता है। जो स्वसन्मुख होकर पुरुषार्थ करता है, उसकी काललब्धि भी पक गई है और कर्म भी हट जाते हैं। चैतन्य मन्दिर में प्रवेश करके पुरुषार्थ से भव्य जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है।

श्री तारणस्वामी ने अध्यात्म भावना का अच्छा घोलन किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि सन्तों ने आगम में जो कहा है, उसी के अनुसार श्री तारणस्वामी ने कहा है। कोई तो आचार्य नाम धारण करके भी ऐसा विपरीत प्ररूपण करते हैं कि 'सम्यग्दर्शन भले ही न हो फिर भी व्रतादि का पुरुषार्थ करो, और सम्यग्दर्शन तो अनायास हो जाएगा।' किन्तु यहाँ कहते हैं कि व्यवहार करते-करते सम्यग्दर्शन

होगा—ऐसा प्ररूपण करनेवाले अथवा सम्यक्त्व के बिना व्रत -चारित्र होने का प्ररूपण करनेवाले सब कुगुरु हैं, उनका उपदेश मिथ्या है। प्रथम चैतन्यप्रकाशी आत्मा में एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तब ही धर्म का प्रारम्भ होता है और इसके पश्चात् ही व्रत-चारित्र होते हैं।

बाहर देखने में लक्ष्मी वगैरह तो पुण्य से मिल जाती है, किन्तु सम्यग्दर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं कि पुण्य से मिल जाए; वह तो अन्तर के प्रयत्न की वस्तु है। सम्यक्त्व क्या है ? इसकी जिसको पहचान भी नहीं, वह जीव सत्य प्ररूपण कहाँ से कर सकेगा ?

सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मतत्व का समाचरण करता है, वह राग से पृथक् शुद्धात्मा का अनुभव करता है, यही सम्यक्त्व का शुद्ध आचरण है। शुद्ध आत्मा की यथार्थ प्रतीतिरूप सम्यक्त्व-आचरण चौथे गुणस्थान में गृहस्थ को भी होता है।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी 'चारित्रप्राभृत' में कहते हैं कि जीव के दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशुद्धि के लिये जिन भगवान ने द्विविध चारित्र कहा है। प्रथम सम्यक्त्व आचरण है, वह जिनदेव के कहे हुए ज्ञान-दर्शन की शुद्धिरूप है,—यह सम्यक्त्व के आचरणरूप चारित्र है और दूसरा संयम के आचरणरूप चारित्र जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। निःशंकितादि आठ आचारयुक्त जो शुद्ध सम्यक्त्व -आचरण है, वह भी मोक्ष के लिये होता है, अर्थात् वह भी मोक्ष का साधन है। मोक्षमार्ग में पहिले सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिए मोक्षमार्ग में वही प्रधान है। सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट जीव चाहे जितना संयमादि पाले तो भी वह मोक्ष नहीं पाता। धीर पुरुष सम्यक्त्व

के आचरण से कर्मों की निर्जरा करता है और दुःख का क्षय करके मोक्ष को पाता है। सम्यक्त्वाचरण होने के बाद संयमाचरण भी अल्प काल में ही होता है। इस प्रकार सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर प्रथम उसकी आराधना का उपदेश है।

यहाँ 'ज्ञानसमुच्चयसार' में भी गाथा २६२-२६३ में कहते हैं कि—जो शुद्धात्मा में रमणतारूप चारित्र है, वह दो प्रकार का जानो—एक तो सम्यक्त्वरूप और दूसरा संयमाचरणरूप। यहाँ 'दुविहि चरणं' कहने से निश्चय और व्यवहार ऐसा द्विविधपना नहीं, किन्तु दर्शन आचरण और चारित्र आचरण ऐसा द्विविधपना है। सम्यक् स्वरूप में चलना-परिणमना, यह तो सम्यक्त्व-आचरण है, और स्वरूप में लीन होकर इन्द्रियदमन के निरोधरूप वर्तन करना, वह संयम-आचरण है। उसमें सम्यक्त्व-आचरण के बिना संयमाचरण कभी नहीं होता।

सम्मत्त चरन पढमं, संयम चरनं विहोई दुतियं च।
सम्मत्त चरन शुद्धं पच्छादो संजमं चरनं॥२६३॥

सम्यक्त्व-आचरण प्रथम है और संयम-आचरण दूसरा है। शुद्ध आत्मा के श्रद्धानरूप प्रथम सम्यक्त्व-चरण है, और बाद में अर्थात् सम्यग्दर्शन के पीछे-पीछे इन्द्रिय-मन के निरोध से संयम -चरण होता है। दर्शन-ज्ञानसहित शुद्धभाव से सम्यक्त्व-चरण का अभ्यास करने से कर्म मल प्रकृति छूट जाती है और जीव अचिरेण अर्थात् अल्प काल में ही मुक्ति को पाता है।

देखो, यह धर्मात्मा के आचरण!

सम्यक्त्व का चारित्र क्या है ?—शुद्धात्मा को प्रतीति में लेकर

नि:शंकितादि आठों गुणसहित वर्तन, यह सम्यक्त्व का आचरण है, बाद में उसी में लीन होकर वीतरागता प्रगटे, यह संयम का आचरण है। दोनों आचरण वीतराग हैं, उनमें राग का मिलान नहीं। समकिती के चारित्रमोह की चार प्रकृति (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ) छूट गयी हैं और स्वरूपाचरणचारित्र प्रगटा है, उसका नाम ही दर्शनाचरण है, वह चौथे गुणस्थान में होता है। और ऐसे दर्शनपूर्वक ही चारित्र होता है; इसलिए प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश है।

हे मोक्षार्थी ! शुद्धात्मा के सम्मुख होकर सम्यग्दर्शन का प्रयत्न तेरा प्रथम कर्तव्य है। मोक्षमार्ग का पहला सोपान सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनरहित जीव को चाहे जितना ज्ञान-चारित्र हो, निरर्थक है और सम्यग्दर्शनसहित जीव को ज्ञान-चारित्र थोड़ा भी हो तो भी वह महान फल को देता है। इसलिए प्रथम सम्यक्त्व का उपदेश है।

गाथा १७५ में कहते हैं कि —

प्रथमं उपदेश सम्यक्त्वं शुद्ध धर्मं सदा बुधैः।
दर्शन ज्ञान मयं शुद्धं सम्यक्त्वं शाश्वतं ध्रुवं ॥१७५॥

बुद्धिमानों को सदा प्रथम सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन शुद्ध है। दर्शन-ज्ञानमय अविनाशी निश्चल शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। जो कोई अपना हित चाहता है - ऐसे मोक्षार्थी को प्रथम सम्यक्त्व का प्रयत्न करना कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग का पहला सोपान है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार (अर्थात् श्रावक के रत्नों के भण्डार) में समन्तभद्र स्वामी ने पहले सम्यक्त्व का उपदेश दिया है—'**दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे**

प्रचक्ष्यते'—सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग का कर्णधार है, वही मोक्षमार्ग का खेवनहार (ले जानेवाला) है। सम्यग्दर्शनपूर्वक ही ज्ञान-चारित्र का उद्यम किया जाता है। सम्यक्त्व के साथ रहनेवाला, ज्ञान के बल से यह शुद्धस्वरूपी आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है। तीन लोक में सारभूत, ऐसा यह ज्ञान गुरुप्रसाद से ज्ञातव्य है।

दीपक और प्रकाश की तरह, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति यद्यपि एक साथ होती है, तो भी उसमें करण-कार्यपना गिना जाता है। सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है, इसलिए सम्यग्दर्शन की मुख्यता है। रत्नत्रय में पहला रत्न तो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा के स्वभाव की वस्तु है। निश्चल आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। विशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा की सानुभव प्रतीति सम्यग्दर्शन है। ऐसी शुद्ध आत्मा प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा है, उसमें पुण्य-पाप आदि कोई परभाव नहीं आये, वह पुण्य-पाप तो विनाशी और मलिन स्वभाववाले हैं।

यहाँ शुद्धात्मा की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है और तत्वार्थ सूत्र में '**तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' कहा है—इन दोनों का एक ही तात्पर्य है। यहाँ अस्ति से बताया है कि शुद्धात्मा की श्रद्धा ही सम्यक्त्व है, और वहाँ शुद्धात्मा की अस्ति में पुण्य-पाप-आश्रव-बन्ध की नास्ति है। इस बात को साथ में लेकर तत्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। सात तत्वों का श्रद्धान भी तब ही यथार्थ होता है, जबकि शुद्धात्मा की ओर झुककर उसकी श्रद्धा की जाए। सात तत्वों में से एक शुद्धात्मा की प्रतीति करने पर उसमें संवर-निर्जरा-मोक्ष अभेदरूप से आ जाता है और आस्रव-बन्ध की नास्ति प्रतीति में आ जाती है। इस प्रकार शुद्धात्मा की श्रद्धा में सातों

तत्वों की श्रद्धा समा जाती है। **श्रद्धा का ध्येय या विषय तो शुद्ध अखण्ड आत्मा ही है, उसकी अन्तर्मुख दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है।**

देखो, भैया! यह सम्यग्दर्शन मूल वस्तु है, इसलिए बार-बार इसका प्रसङ्ग चलता है।

कोई जीव व्यवहार को बलवान् कहे, और 'बहुत जीवों के समूह व्यवहार के आश्रय से मुक्त हुए'—ऐसा कहकर व्यवहार के आश्रय से लाभ बतावे, अथवा निमित्त को बलवान कहकर उसके आश्रय से लाभ बतावे तो ऐसा समझना चाहिए कि वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जो जीव मुक्त हुए हैं, वे निश्चय के ही आश्रय से मुक्त हुए हैं।*

व्यवहार के आश्रय से कभी भी कोई भी जीव न तो मुक्ति पाया है और न पायेगा। सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग, निश्चय के आश्रय से ही है। मार्ग क्या है? उसको पहिचानकर पहले श्रद्धा करनी चाहिए, बाद में उसी श्रद्धा के अनुसार चारित्र होता है। जिसकी श्रद्धा ही गलत है, उसका चारित्र भी मिथ्या ही होता है। सम्यक् श्रद्धापूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है।

'**सम्यक्त्व चरणं पढमं**'—पहले सम्यग्दर्शन का आचरण होता है। चैतन्य के आश्रय से निर्विकल्प श्रद्धा का जो परिणमन हुआ, उसमें अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ और स्वरूचारण प्रगट हुआ, इसी का नाम सम्यक्त्व-आचरण है, धर्म का यह पहला डग है, इसके बिना धर्म मार्ग में एक कदम भी नहीं चला जा सकता।

* णिच्छयणया सिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं (समयसार 272)

सम्यक्त्व के बाद दूसरा संयम-आचरण है। परमानन्दस्वरूप की प्रतीति और उसमें लीनता, यही 'सर्व ज्ञान का सार' है, इसका नाम 'ज्ञानसमुच्चयसार' है।

सम्यक्त्व का जो व्यवहार—आठ आचार है, वह पुण्यबन्ध का कारण है और परमार्थस्वरूप में निःशङ्कता-आदि रूप जो निश्चय सम्यक्त्व-आचार है, वह संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण है। इसी प्रकार जो व्यवहारचारित्र के आचार हैं, वह शुभराग है, वह मोक्ष का कारण नहीं है। यहाँ जो दर्शनाचार और चारित्राचार कहा है, वह तो शुद्ध वीतराग है, शुद्धात्मस्वरूप में रमणतारूप है, उसमें देव-गुरु आदि बाह्य पदार्थों का अवलम्बन नहीं है; केवल शुद्धात्मा का ही अवलम्बन है।

श्रावक को चाहिए कि प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके उसी को ध्यावे। सम्यक्त्व के परिणमन से दुष्ट-अष्टकर्म नष्ट हो जाते हैं — ऐसा मोक्षप्राभृत, गाथा 87 में कहा है। उसी प्रकार यहाँ भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के आचरण का अभ्यास करने से जीव अल्प काल में ही कर्म प्रकृति मल से मुक्त हो जाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन के परिणमन से शुद्धता बढ़ती जाती है और अनुक्रम से अल्प काल में चारित्र भी प्रगटता है और उसके द्वारा जीव '**अचिरेण लभन्ति निर्वाणं।**' सम्यग्दर्शन से चारित्र प्रगट करके जीव अल्प काल में अवश्य निर्वाण पाता है।

देखो, यह सम्यग्दर्शन की महिमा!

भव्यजीवों को ऐसे सम्यग्दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए। त्रिअर्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय, उसकी सिद्धि का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग में अग्रसर है,

इसलिए उसकी आराधना मुमुक्षु का प्रथम कर्तव्य है। मुमुक्षु सदैव शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास करें।

* * *

अब, सम्यक्त्व किसे कहते हैं ? यह बात ३२ वीं गाथा में कहते हैं —

सम्यक्त्वं उत्पादते भावं, देव गुरु धर्म शुद्धयं।
विज्ञानं जे विजानंते, सम्यक्त्वं तस्य उच्यते॥३२॥

सम्यग्दर्शन शुद्ध देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करता है। जो कोई जीव भेदविज्ञान समझता है, उसे ही सम्यग्दर्शन होता है। अरिहन्त-सिद्ध आदि के आत्मिक गुणों की सच्ची पहिचान सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है; इसलिए कहा है कि सम्यग्दर्शन शुद्ध देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार गुरु की-मुनिदशा की तथा रत्नत्रय धर्म की पहिचान भी सम्यग्दर्शनपूर्वक ही यथार्थ होती है। पुद्गल से-परभवों से भिन्न शुद्ध आत्मा को जो जानता है, उसको ही सम्यग्दर्शन होता है।

देखो! सम्यग्दर्शन किसको कहें ? इसके लिए यह बात विचारनेयोग्य है।

जहाँ शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया, वहाँ देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा भी उसमें आ जाती है। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार, दोनों साथ दिखाये हैं। सम्यग्दर्शन के होते ही शुद्ध देव-गुरु-धर्म की वास्तविक पहिचान हो जाती है और शुद्धभाव प्रगटता है।

जब अपने को चैतन्य का भान हुआ, अनुभव हुआ और

शुद्धता का अंश अपने में प्रगट हुआ, तब ऐसी पूर्ण शुद्धदशा को पानेवाले देव कैसे होते हैं, उस पूर्ण दशाा के साधक गुरु कैसे होते हैं, और उसका साधन अर्थात् वीतरागभावरूप धर्म (रत्नत्रय धर्म) कैसा होता है—इसका भी सच्चा भान हुआ। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न कर देता है। सम्यग्दर्शन के बिना देव -गुरु-धर्म की यथार्थ श्रद्धा-पहिचान कहाँ से होगी?

श्री तारणस्वमी, गाथा २६१ में कहते हैं कि —

'ज्ञानं तिलोय सारं णायव्वो गुरु पसाएन'

ऐसा ज्ञान तीन लोक का सार है कि जिस ज्ञान के बल से आत्मा, परमात्मा होता है। ऐसा ज्ञान गुरु-प्रसाद से जानने योग्य है। देखो! गुरु-प्रसाद से जानने का कहकर व्यवहार भी दिखाया है और ज्ञान बल से ही आत्मा, परमात्मा होता है - ऐसा कहकर निश्चय भी दिखाया है। जब जीव स्वयं ही स्वसन्मुख होकर भेदज्ञान प्रगट करे, तब ऐसा कहने में आता है कि गुरु-प्रसाद से जाना। ऐसे ज्ञान को जिन भगवान ने तीन लोक का सार कहा है।

जिन भगवान ने कहा और गुरु प्रसाद से जाना—ऐसा कहकर देव-गुरु दोनों की बात दिखायी। देव-गुरु ने क्या कहा? देव-गुरु के प्रसाद से जिज्ञासु ने क्या जाना? शुद्ध ज्ञानस्वरूपी आत्मा को जाना। जिसने ऐसे ज्ञानस्वभाव को जाना, उसने ही देव-गुरु का प्रसाद प्राप्त किया। जिसने इससे विपरीत माना, उसने न तो देव-गुरु को पहिचाना, न उनके उपदेश को जाना और न गुरु का प्रसाद प्राप्त किया।

गुरु-प्रसाद से ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा जानने योग्य है -

ऐसा कहकर देशनालब्धि की भी बात दिखायी। ज्ञानी की देशना झेलकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। अहो! ऐसा ज्ञान तीन लोक में साररूप है। विश्व में सबसे साररूप अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप व्यक्त आत्मा है, जिसने उसको जाना, उसने तीन लोक का सार जान लिया।

हमारे ऊपर अनुग्रह करके हमारे गुरु ने हमको शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया और उससे हमारे निज वैभव की उत्पत्ति हुई – ऐसा समयसार की पाँचवीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं —

'तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण'

'दर्शाउं एक विभक्त ये मुझ आत्म के निज विभव से'

इसकी टीका में निज वैभव का विवेचन करते हुए कहते हैं कि निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव एवं अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त के द्वारा प्रसादरूप में दिये गये शुद्धात्मतत्व के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से तथा पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है, उससे निज वैभव का जन्म है। और भी कहते हैं कि निरन्तर झरता-आस्वाद में आता-जो सुन्दर आनन्द, उसकी मुद्रावाला प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से उस निज वैभव का जन्म हुआ है। ऐसे निज वैभव से मैं शुद्धात्मा दिखाता हूँ।

देखो! इमसें तो बहुत रहस्य आचार्यदेव ने भर दिया है। उपादान -निमित्त दोनों को इसमें दिखाया है। उपदेशक देव-गुरु कैसे हैं?—निज आत्मा में अन्तर्मग्न हैं। उन्होंने कैसा उपदेश दिया है? —शुद्धात्मतत्व का उपदेश दिया है। उसको झेलकर स्वयं ने क्या किया?—निरन्तर आस्वाद में आनेवाले आनन्द की छापवाला स्वसंवेदन किया।

धर्मात्मा को देव-गुरु के प्रति विनय भाव होता है। जब स्वसंवेदन से स्वयं अनुभव प्राप्त किया, तब 'गुरु की कृपा से और गुरु के प्रसाद से वह प्राप्त किया'—ऐसा विनय से कहता है; उसमें पात्रता तो अपनी है। अपनी स्वयं की तैयारी के बिना जीव अनन्त बार समवसरण में भगवान के पास गया और गुरु भी अनन्त बार मिले, किन्तु उपादान की जागृति के बिना वे देव या गुरु क्या करें? जीव जब स्वयं जागृत हुआ, तब ही देव-गुरु का प्रसाद कहा।

गुरु कैसा हो, यह भी दिखाया है। गुरु ऐसा न हो कि पराश्रय का उपदेश दे। गुरु ने कृपापूर्वक शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया। गुरु-प्रसाद से... जानना...; —क्या जानना? शुद्धात्मतत्त्व जानना। शुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान तीन लोक में सार है। ऐसे ज्ञानपूर्वक देव-गुरु-धर्म की सच्ची पहिचान होती है। अकेली बाह्यवृत्ति से या राग से देव-गुरु-धर्म की सच्ची पहिचान नहीं होती। अज्ञानी जीव, भगवान के समवसरण में गया तो भी उसने भगवान को वास्तव में नहीं पहिचाना। जो वास्तव में भगवान का स्वरूप पहिचाने तो अपने आत्मा की भी पहिचान अवश्य हो जाए। यह बात प्रवचनसार की 80 वीं गाथा में बहुत ही सरस समझायी है। मेरा परमात्मतत्व मेरे में है, परचीज का या परभाव का अंश भी मेरे स्वभाव में नहीं है—ऐसा भेदविज्ञान जो करता है, उसको ही सम्यग्दर्शन होता है।

ऐसे सम्यग्दर्शनसहित जीव कैसे देव को मानता है? यह बात श्री तारणस्वामी ३३वीं गाथा में कहते हैं —

देव देवाधि देवं च, देवं त्रिलोक वंदितं।
ति अर्थं समयं शुद्धं, सर्वज्ञं पंच दीप्तयं॥३३॥

रत्नत्रयस्वरूप शुद्ध आत्मा है, वह देव है, वह देवाधिदेव तीन लोक से वन्दनीक हैं, इन्द्रादि देवों से पूज्य हैं, सर्वज्ञ हैं, पाँचवीं ज्ञानज्योति अर्थात् केवलज्ञानसहित हैं। ऐसे देवाधिदेव को सम्यग्दृष्टि जीव, देव के रूप में आदर करता है।

भगवान अरिहन्त को और सिद्ध परमात्मा को रत्नत्रय की पूर्णता हो गयी है। वे सच्चे देव हैं। सम्यग्दृष्टि ने ऐसे देव को यथार्थरूप में पहिचाना है। पूर्ण स्वरूप जिसको प्राप्त है - ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा तीन लोक में वंद्य हैं और तीन काल-तीनलोक के जाननेवाले हैं। ऐसी ही शक्ति अपनी आत्मा में भी है। ऐसे देव की प्रतीति में शुद्धात्मा की प्रतीति आ जाती है और वही सम्यग्दर्शन हो ऐसी श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन हो और ऐसी श्रद्धा न हो - ऐसा नहीं हो सकता। रत्नत्रयस्वरूप शुद्ध आत्मा देवाधिदेव है, इन्द्रादि देवों से पूज्य है, सर्वज्ञ है, पंचम ज्ञान से शोभित है,—ऐसे सर्वज्ञदेव की प्रतीति सम्यग्दर्शन में अवश्य होती है।

सर्वज्ञ कैसे हैं - और आत्मा में सर्वज्ञ होने की सामर्थ्य कैसी है - इसका निर्णय साधक को अवश्य होता है। 'सर्वज्ञ की बात सर्वज्ञ जानें, साधक उसका निर्णय नहीं कर सकता'—ऐसा कोई कहे तो उसकी बात मिथ्या है, उसको सर्वज्ञ की या साधकदशा की पहिचान ही नहीं। यदि साधक अपने ज्ञान में सर्वज्ञ के स्वरूप का निर्णय न कर सके, तब तो उसे सर्वज्ञदेव की श्रद्धा ही कैसे हो? और सर्वज्ञ की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन कैसा? अरे! सर्वज्ञ की श्रद्धा का भी जिसको ठिकाना नहीं—'हमारे से सर्वज्ञ का निर्णय भी नहीं हो सकता'—ऐसा जो कहता है, उसको व्रतादि तो

होंगे ही कहाँ से? सर्वज्ञपद क्या है—इसकी पहिचान में आत्मा की पहिचान समा जाती है, और आत्मा की पहिचान में सर्वज्ञपद की पहिचान समा जाती है। ऐसी पहिचान के बाद ही व्रतादि या मुनिदशा हो सकती है।

''जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ नहिं होसी, काहे होत अधीरा ते॥''

इस पद में सर्वज्ञ की एवं आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति सहित की बात है। सर्वज्ञ की और आत्मा के ज्ञानस्वभाव की स्वसन्मुख होकर प्रतीति करने से ज्ञान धीरा होता है, पर में कर्तृत्वबुद्धि और आकुलता मिट जाती है। मैं तो ज्ञान हूँ, मैं किसका फेरफार करूँ? मैं तो पर का अकर्ता-साक्षी ही हूँ—ऐसे स्वभाव की प्रतीति सम्यग्दृष्टि को ही होती है। प्रत्येक आत्मार्थी का प्रथम ऐसा सम्यग्दर्शन ही कर्तव्य है।

[4]

चौथा प्रवचन

ॐ का वाच्य शुद्ध आत्मा है।

अन्तर के चैतन्य दरबार में जा और अपनी अनन्त विभूति को देख

[वीर सं० २४८८-आश्विन कृष्ण १४]

यहाँ 'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' में सम्यग्दर्शन का अधिकार चलता है। सम्यग्दर्शन का उद्यम ही मोक्षार्थी का पहला कर्तव्य है। ज्ञानस्वभावी आत्मा चैतन्य प्रकाश का पुञ्ज है, विकार का अन्धकार उसके स्वभाव में नहीं। ऐसे शुद्ध स्वभाव की प्रतीति होना, अनुभव होना, ही सम्यग्दर्शन है और वही स्वरूपाचरणरूप प्रथम धर्म है, इसके बाद ही संयमाचरणरूप चारित्र धर्म होता है। इसलिये सन्तों ने प्रथम, सम्यग्दर्शन की आराधना का उपदेश दिया है।

यहाँ ३४ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि ॐ पञ्च परमेष्ठी संयुक्त है—

ॐ वं ऊर्ध्वं सद्भावं, परमेष्ठी च संजुत्तं।
सर्वज्ञं शुद्ध तत्त्वं च, विंदस्थानं नमस्कृतं॥३४॥

ॐ यह मन्त्र ऊर्ध्वरूप अर्थात् उत्तमरूप ऐसे सत्य स्वभाव का द्योतक है, ऊर्ध्वस्वभावी शुद्ध आत्मा ॐ का वाच्य है, और ॐ मन्त्र में पाँचों परमेष्ठी आ जाते हैं। पञ्च परमेष्ठियों का पहला अक्षर मिल करके ओम् — ॐ बनता है। (अशरीरी सिद्ध का अ,

अरहन्त का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, और मुनि का म्, इस प्रकार अ +अ+आ+उ+म् = ओम् बनता है।) उसके ऊपर का बिन्दुस्थान, सर्व विभाव से शून्य ऐसे शुद्ध सर्वज्ञतत्त्व का द्योतक है, वह नमस्कार योग्य है।

ॐ शब्द में पञ्च परमेष्ठी नहीं हैं, पञ्च परमेष्ठी तो आत्म - स्वरूप है, ॐ शब्द उसका वाचक है। जैसे शक्कर ऐसा तीन अक्षर का शब्द शक्कर पदार्थ का ज्ञान कराता है, किन्तु उस शब्द में तो शक्कर नहीं है। वैसे ॐ शब्द पञ्च परमेष्ठी के स्वभाव का वाचक है, किन्तु परमेष्ठीपन तो आत्मा की शुद्धपरिणति में है, शब्द में नहीं।

ॐ यह भगवान की वाणी है, अथवा ॐ यह शुद्धात्मा है, ॐ के दो प्रकार हैं, पहला द्रव्यरूप, दूसरा भावरूप। द्रव्यरूप ॐ शब्द है, वह भावरूप शुद्धात्मा का वाचक है। भावरूप ॐ आत्मा की शुद्धदशा है। पाँचों परमेष्ठी ऊर्ध्वस्वभावी हैं, ॐ उसका द्योतक है। आत्मा की निर्मलदशा के भाव के बिना अकेले ॐ शब्द के जाप जपने से सम्यक्त्वादि का कोई लाभ नहीं होता। ॐ के वाच्यरूप जो शुद्ध आत्मा है, उसकी पहचान से ही सम्यग्दर्शन आदि का लाभ होता है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा, पुण्य-पापादि परभावों से रहित निर्मल स्वभाव से भरा हुआ है, वह उत्तम है, ऊर्ध्वस्वभावी है। उस उत्तम स्वभाव को दिखानेवाला ॐ है, अथवा भगवान की वाणी रूप ॐ है, वह शुद्धात्मा को दिखाता है। अरिहन्त के शरीरादि और बाह्य समवसरणादि तो संयोगरूप हैं, वह ॐ का सच्चा वाच्य नहीं। अन्तर में निर्मलदशासहित जो विज्ञानघन चैतन्यपिण्ड विराजमान

है, वही ॐ का सच्चा वाच्य है। भगवान अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा एवं पञ्च परमेष्ठी ॐ के वाच्य हैं। चैतन्यस्वभाव की मर्यादा में लीन होकर उसमें जो चर्या करते हैं, वे आचार्य हैं। 'उप' अर्थात् चैतन्यस्वभाव के समीप में जा करके उसका जो ध्यान-अध्ययन करते हैं, वे उपाध्यय हैं। उत्तम चैतन्यस्वभाव में लीन होकर जो चैतन्य-सुधा-रस का पान करते हैं, वे साधु हैं, वे मोक्षमार्ग को साधते हैं। ऐसी निर्मलदशा के धारक आचार्य, उपाध्याय, साधु का वाचक ॐ है, और शुद्ध आत्मतत्त्व भी ओम् का वाच्य है। सम्यग्दर्शन के बिना ॐ के वाच्य की पहचान नहीं होती।

यह भगवान आत्मा अपने स्वभाव में बसता है, यही उसका वस्तुत्व है। अथवा ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुण उसमें बसते हैं, यही उसका वस्तुत्व है।

अब, ८०९वीं गाथा में जीव के वस्तुत्व का वर्णन करते हुए श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

वस्तुत्वं वसति भुवने, वस्तुत्वं ज्ञान दंसण अनन्तो।
नन्तानन्त चतुष्टं, वस्तुत्वं तिलोय निम्मलो शुद्धो॥८०९॥

इस जीव का वस्तुत्व यह है कि वह लोक में बसता है, अथवा अपने अनन्त गुणस्वरूप लोक में बसता है, यह जीव का वस्तुत्व है। जीव में अपने अनन्त ज्ञान-दर्शनादि गुणों का वास है, यह उसका वस्तुत्व है। तीन लोक में निर्मल शुद्ध पदार्थ है—ऐसा जीव का वस्तुत्व है। ऐसे वस्तुत्व को पहचानकर स्वद्रव्य में बसना ही सच्चा वास्तु है।

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व

- ये छह सामान्य गुण हैं, ये प्रत्येक पदार्थ में हैं। श्री तारणस्वामी ने जीव के शुद्ध अस्तित्व, वस्तुत्व आदि का अध्यात्म शैली से वर्णन किया है। आत्मा का वस्तुत्व आत्मा में है, उसके अनन्त गुणों का वास उसी में है। यह जीव लोक में बसता है, लोक का द्रव्य लोक में ही रहेगा, अलोक में नहीं जाएगा। परमार्थ से आप अपने चैतन्य भवन में बसता है और बाह्य से लोक भवन में बसता है। लोक की चीज लोक में ही रहे, अलोक में न जाए —ऐसा उसका वस्तुत्व है। यह क्षेत्र-अपेक्षा वस्तुत्व कहा। भाव से अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन में बसता है, यह जीव का वस्तुत्व है। जीव में अपने अनन्त दर्शनादि गुणों का वास है, एक समय में अनन्त शक्ति उसमें रहती है। चिदानन्दस्वरूप आत्मवस्तु में विकार का वास्तु (प्रवेश) वास्तव में नहीं है। चैतन्यस्वभाव में विकार का वास नहीं है और विकार में चैतन्यभाव का वास नहीं है। अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द और वीर्यरूप चतुष्टय आत्मा में बसता है, यह जीव का वस्तुत्व है। वस्तु में अनन्त गुणों का वास है, कोई वस्तु अपने गुणों से खाली नहीं होती। अनन्त गुण जिसमें बसें, उसका नाम वस्तु है।

भाई! तेरी चैतन्य वस्तु में तेरे अनन्त निर्मल गुणों का वास है। 'जहाँ चेतन वहाँ अनन्तगुण, केवली बोले यह।' तेरी चैतन्य वस्तु में पर का वास नहीं, विकार का वास नहीं, किन्तु आनन्द आदि का वास है। तेरी वस्तु का वस्तुत्व विकार से खाली और ज्ञान-आनन्द से भरपूर है। ऐसी आत्मवस्तु को स्वसंवेदन से अनुभव और प्रतीति में लेकर उसमें बसना, यही मोक्ष-मन्दिर का सच्चा वास्तु है।

अहो! चैतन्य का वस्तुपन तीन लोक में निर्मल है, उस जैसी पवित्र वस्तु तीन लोक में कोई नहीं है। ऐसी स्ववस्तु को अन्तर-दृष्टि में लेना, वह सम्यग्दर्शन है और यही वस्तुस्वभाव का अपूर्व वास्तु है। जिसने सम्यग्दर्शन किया, उसने स्वघर में ही वास किया। अब सादि–अनन्त काल तक वह स्व घर में ही सुखपूर्वक रहेगा।

संसारदशा में अशुद्धता और सिद्धदशा में शुद्धता है। उसमें अशुद्धता वास्तव में चैतन्य के वस्तुस्वभाव का कार्य नहीं है। उसमें जीव का सच्चा वास नहीं और जीव के स्वभाव में अशुद्धता का वास नहीं है। अशुद्धता वास्तव में त्रिकाली निर्मल गुण का कार्य नहीं है। जो शुद्धता प्रगट हुई, उसमें आत्मा वसता है और वही उसका सच्चा रहने का स्थान है। ('उपयोग, उपयोग में है; उपयोग, क्रोधादि में नहीं है।')

ॐ का वाच्यभूत शुद्ध आत्मा है। सिद्धसमान, अर्थात् आठ कर्मों से शून्य और चिदानन्दस्वभाव से भरपूर, ऐसे सिद्ध–समान शुद्ध आत्मा को जिसने पहिचाना, उसने पञ्च परमेष्ठी को पहिचाना, वह पञ्च परमेष्ठी का सच्चा भक्त हुआ, उपासक हुआ। ॐ यह सर्वज्ञ भगवान की वाणी है एवं उसके वाच्यरूप भगवान सर्वज्ञ हैं। अपना सर्वज्ञस्वभाव भी ॐ का वाच्य है। इस तरह ॐ शुद्ध परम तत्त्व का प्रकाशक है। अरिहन्त और सिद्ध भगवन्तों को यह परम तत्त्व की शुद्धता व्यक्त हो गई है, आचार्य–उपाध्याय–साधु एवं सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा वह शुद्धता व्यक्त करने का उद्यम कर रहे हैं।

सबसे पहले जीव को स्वसन्मुख होकर विश्वास होना चाहिए कि मैं जिनेन्द्ररूप हूँ। भगवान जिनेन्द्र के रूप में और मेरे रूप में कोई अन्तर नहीं है। मेरा स्वभाव सम्पूर्ण वीतराग–विज्ञानघन

समस्वभावी है—ऐसे स्वभाव को अन्तर्दृष्टि से देखने से सम्यग्दर्शन होता है, यही मूल अर्थात् प्रथम धर्म है। ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का प्रारम्भ या छुटकारे का प्रारम्भ नहीं होता। चाहे लाखों-करोड़ों णमोकार मन्त्र के जाप जपें परन्तु उसके वाच्यरूप शुद्धात्मा के लक्ष्य के बिना धर्म का लाभ किञ्चित् भी नहीं होता।

श्री तारणस्वामी ने सम्यग्दर्शन का अधिकार अच्छा लिखा है। धर्म में मुख्य चीज सम्यग्दर्शन है, किन्तु उसको भूलकर बहुत से जीव दूसरी बातों में रुक गये हैं।

भगवान के समवसरण में १२०० करोड़ दैवी बाजे बजते हैं, यह तो बाहर की चीज है, अन्दर में चैतन्य रस की झनझनाहट होकर अतीन्द्रिय आनन्द का जो अनुभव होता है, उसमें ही चैतन्य का सच्चा बाजा बजता है। समवसरण में बाहर में दिव्य-ध्वनि का नाद है और धर्मात्मा के अन्तर में—चैतन्य दरबार में दिव्य स्वभाव के अनुभव का अनहद नाद बजता है। समवसरण में दुंदुभी के नाद पर देव लोग प्रगट करते हैं कि—'अरे जीवो! तीन लोक के तारणहार तीर्थङ्कर परमात्मा यहाँ विराज रहे हैं, तुम्हें कल्याण करना हो तो यहाँ भगवान के दरबार में आओ और भगवान की दिव्यध्वनि का नाद सुनो...' और भगवान की वाणी कहती है कि—तेरे अन्तर में चैतन्य दरबार है, उसमें जा... और अपनी अनन्त विभूति को देख। जो चैतन्य दरबार में जाता है, वह जीव सम्यग्दर्शनादि को प्राप्त किये बिना वापिस नहीं लौटता। बाहर के समवसरण में जाकर भी जो अन्तर में चैतन्य के अनन्त गुण से भरे हुए समवसरण में नहीं गया—स्वभावसन्मुख नहीं हुआ, उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता और बिना सम्यग्दर्शन, कल्याण नहीं होता। भगवान की सभा

में बहुत से जीव धर्म प्राप्त करते हैं, इससे उसको 'धर्मसभा' कहा जाता है और परमार्थ से अन्दर में अनन्त धर्मों की सभा (समूह) है, वह 'धर्म सभा' है। ऐसी धर्मसभा में जो प्रवेश करे, वह धर्म प्राप्त किये बिना वापिस नहीं आता, उसको अवश्य सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति होती है।

अब, गाथा ३५ में परमेष्ठी भगवन्तों के शुद्ध गुणों का कथन श्री तारणस्वामी करते हैं —

परमेष्ठी उत्पन्नं शुद्धं, शुद्ध सम्यक्त्व संजुत्तं।
तस्यास्ति गुण प्रोक्तं च, ज्ञानं शुद्ध समं ध्रुवं॥३५॥

भगवान अरिहन्त-सिद्ध इत्यादि परमेष्ठियों को शुद्धभाव प्रगट है, वे शुद्ध सम्यक्त्वसहित हैं, अनन्त ज्ञान-आनन्द आदि गुणों से परिपूर्ण हैं, वीतरागी समभावसहित शुद्ध अविनाशी ज्ञान उन्हें प्रगटा है। देव के शुद्ध गुणों का कथन करके यहाँ आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसा है—यह दिखाया है।

प्रत्येक आत्मा में पूर्ण ज्ञान-आनन्द शक्तिरूप से भरा है। जैसे छोटी पीपर में चरपराहट भरी है। यह शक्ति अरिहन्त सिद्ध-परमात्मा पूर्णतया प्रगट कर चुके हैं। प्रदेश-प्रदेश पर अनन्त गुण से भरा आत्मा केवलज्ञानज्योति से आनन्दमय सुप्रभात से जगमगा रहा है और ऐसा ही स्वभाव इस आत्मा में है। ऐसे शुद्ध अस्तिस्वभाव की पहिचान ही सम्यग्दर्शन है।

'ज्ञानसमुच्चयसार' पृष्ठ ४४८ में कहते हैं कि —

अस्ति अस्ति तिलोकं, वर दंसन ज्ञान चरन संजुत्तं।
दंसेह तिहुं बनग्गं ज्ञानमया ज्ञान ससरूवं॥८०७॥

अस्ति चरन संजुत्तं अस्ति, सरूवेन सहाव निम्मलं शुद्धं।
विगतं अविगत रूवं, चेयन संजुत्त निम्मलो सुद्धो ॥८०८॥

जीवद्रव्य अस्तिरूप है, वह तीन लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेश का धारक है, उत्कृष्ट-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित है, तीन भुवन को देखनेवाला है, ज्ञानमय है—ज्ञानस्वरूप है, चारित्र संयुक्त है—ऐसे अपने निर्मलस्वरूप से जीव शुद्ध अस्तित्व को धारण करता है, वह स्पर्शादि रहित अमूर्त है और चेतनागुण संयुक्त है।

'अस्ति' एवं 'तिलोकं अस्ति' - ऐसा कहकर शुद्ध अस्तित्व के साथ-साथ तीन लोक प्रमाण प्रदेशत्व भी दिखाया है। जीव के प्रदेश, लोक-प्रदेश तुल्य असंख्य हैं और अनन्त गुण से भरा हुआ उसका वस्तुत्व है। लोकालोक का जाने, ऐसा उसका लोकप्रमाण स्वभाव है। स्वसंवेदन से जानने में आवे, ऐसा उसका प्रमेयत्व है। निर्विकल्प आनन्दसहित प्रमेय हो, ऐसा उसका स्वभाव है। उसका प्रदेश असंख्य और गुण अनन्त,ऐसा अस्तिस्वभावी चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसका अभ्यास करना चाहिए। बच्चों को भी उसका अभ्यास करना चाहिए। अहो! आत्मा के शुद्ध स्वभावमय निर्मल अस्तित्व की बात दिखाकर अध्यात्म के तरंग उछाले हैं। स्वरूप का ऐसा अस्तित्व समझे तो अन्तर में निर्मल ज्ञान-आनन्द की तरंग उल्लसित हो।

अनन्त गुण की शुद्धता से भरपूर जीव का अस्तित्व है, वह जड़रूप से रहित है और निर्मल चेतनासहित है। असंख्य प्रदेश में सर्वत्र अनन्त गुण भरे हैं। आत्मा में ही देवपने की दिव्य शक्ति है। जितना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगटे, उतना देवपना है। ऐसे

आत्मस्वरूप की प्रतीति और पहिचान करना, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

गाथा ५६५ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि —

ववहारं सम्मत्तं, देवगुर सुद्ध धम्म संजुत्तं।
दंसन ज्ञान चरित्तं, मल मुक्कं ववहार सम्मत्तं ॥५६५॥

निर्दोष देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान तथा शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का श्रद्धान, वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चय से अपना शुद्ध आत्मा स्वयं ही देव है; शुद्ध आत्मा की साधकदशा ही गुरु है; शुद्ध आत्मा का स्वभाव (निर्मल चेतना अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव) ही धर्म है। आत्मा ही निश्चय से रत्नत्रय-स्वरूप है। ऐसे आत्मा के श्रद्धान के साथ निर्दोष देव-गुरु की प्रतीति, वह व्यवहारसम्यक्त्व है। राग की उत्पत्ति हिंसा है, और रागरहित वीतरागभाव, अहिंसा धर्म है।

शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति, निश्चयसम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन, पर्याय है और वह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। देव, गुरु की सविकल्प प्रतीतिरूप जो व्यवहारसम्यग्दर्शन है, वह असद्भूत व्यवहारनय का विषय है, क्योंकि वह विकल्प, सत्स्वभाव में नहीं है; इसलिए असद्भूत है। निर्मल पर्याय के भेद को सद्भूत व्यवहार कहा और विकल्प की अशुद्धता को असद्भूत व्यवहार कहा। इस प्रकार निश्चयमोक्षमार्गरूप जो रत्नत्रय पर्याय है, वह सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहना, वह तो निश्चयमोक्षमार्ग ही है, व्यवहार नहीं, किन्तु द्रव्य और शुद्ध पर्याय अभेद होने पर भी, भेद करके कहना, वह व्यवहार है। इस अपेक्षा से निश्चयमोक्षमार्ग या केवलज्ञानादि चतुष्टय भी

व्यवहारनय का विषय है। वे पर्यायें पहले नहीं थीं और नई प्रगटीं, वे त्रिकाल एकरूप नहीं है। जो त्रिकाल एकरूप स्वभाव-शक्ति से सम्पूर्ण है, वह निश्चयनय का विषय है। उसमें निर्मल पर्याय अभेदरूप से आ जाती है। निश्चय में द्रव्य-पर्याय का भेद करना, वह भी व्यवहार है। संसार, मोक्ष और मोक्षमार्ग को साधना, ये सब व्यवहार के विषय में आते हैं। शुद्धनय के विषय में तो शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय से एकाकार शुद्ध तत्त्व ही प्रकाशमान है। नय-प्रमाण से यथार्थ ज्ञान करना, वह प्रमाण है। उसमें निश्चय अर्थात् त्रिकाल एकरूप शुद्धस्वभाव क्या है, और व्यवहार अर्थात् पर्याय के भेद का प्रकार क्या है—वह नय-प्रमाण से यथार्थ जानना, सम्यग्ज्ञान है।

शुद्ध नय से त्रिकाली द्रव्य में प्रवेश करके, उसमें से मोक्षमार्ग की पर्याय का अंश प्रगट किया, उस अंश को व्यवहार कहते हैं। यह धर्मात्मा का शुद्ध चेतना के विलासरूप व्यवहार है। अन्यत्र पर की श्रद्धा के विकल्प को व्यवहार कहते हैं, ऐसा यह व्यवहार नहीं, यहाँ तो निर्मल परिणति को व्यवहार कहा है।

अहा! चैतन्य का मार्ग तो सरल है, परन्तु जीव ने कभी उस मार्ग को अङ्गीकार नहीं किया, उस मार्ग पर जीव कभी नहीं चला। चैतन्य के मार्ग में अन्य किसी की पराधीनता नहीं है, वह स्वाधीन और सरल मार्ग है, परन्तु गुरुगम से उसको जानना चाहिए। गुरुगम से वस्तुस्वरूप का निर्णय करके, वस्तुस्वभाव के सम्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अनुभव करना, यही मोक्ष का मार्ग है, उसमें पञ्च परमेष्ठी की पहिचान और उपासना आ जाती है।

आत्मा का स्वभाव शरीरादिक से और रागादिक परभावों अलिप्त है—यह बात गाथा ३६ में श्री तारणस्वामी दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

पयकमले कदलं, कदले पुलिनं, जं जानुस्थितं पुलिने गगनं।
गगने कलशं, तं ऊर्ध्वगुनं, कलशे शशिनं, शशिने भवनं।
तं धर्म पदं, परमेष्टि पदं, तं पंच दिप्तं, ध्रुव केवलि उवनं॥३६॥

जैसे कमलपत्र पानी में रहता है, तो भी पानी को स्पर्श नहीं करता, तथा कमलपत्र के ऊपर जल की बूँद है तो भी वह कमलपत्र को स्पर्श नहीं करता और जल की बूँद में आकाश है, तो भी उससे आकाश अलिप्त है—ऐसे दृष्टान्तों के अनुसार भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा, देह में रहता हुआ भी देह को नहीं छूता, राग को भी नहीं छूता। देह से और राग से वह अलिप्त है, आकाश जैसा अलिप्त है। जहाँ पानी है, वहाँ आकाश है, तो भी पानी, आकाश को नहीं छूता; आकाश, पानी के स्पर्श से रहित है; वैसे ही चैतन्यमूर्ति अरूपी आत्मा निर्मल आकाश जैसा अलिप्त है, वह जड़ देह को स्पर्श नहीं करता। देह के साथ जल-कमलवत् एक क्षेत्र में रहने पर भी, आत्मा, देह को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। जैसे कलश में चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखता है तो भी चन्द्र तो कलश से पृथक् ही है; वैसे कलश जैसा इस देह-घट में चैतन्यचन्द्र पृथक है। चन्द्रविमान में रहा हुआ चन्द्र जैसे चन्द्रभवन से अलग है, वैसे ही इस देहविमान में भगवान आत्मा ऊर्ध्व चैतन्यस्वभावी है, वह देह से अलग है। ऐसा निजात्मा ही अरिहन्तादि परमेष्ठी पद का आधार है और वही केवलज्ञान का धाम है। परमेष्ठी पद और केवलज्ञानादि उसमें से ही निकलते हैं। बाहर में पञ्च परमेष्ठी पद को पूजे, किन्तु अन्तर में अपनी आत्मा में ही परमेष्ठी पद की शक्ति भरी है—उसका जो विश्वास न करे तो सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अरे जीव! तेरे पद को तू क्यों बाहर ढूँढ़ता है? सर्वज्ञ पद पाने

की सामर्थ्य तेरे स्वभाव में भरी है। जैसे कस्तूरी की सुगन्धि मृग की नाभि में ही भरी है, तो भी अज्ञान से वह उसे बाहर ढूँढ़ता है; वैसे आत्मा में केवलज्ञान प्रकाश भरा है, उसमें से ही ध्रुव अविनाशी केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, केवलज्ञान बाहर से नहीं आता, तो भी अज्ञानी व्यर्थ ही बाहर साधन को ढूँढ़ता है और दुःखी होता है।

केवलज्ञान प्रकाश से भरपूर ऐसे शुद्ध आत्मा की स्व-आश्रय से प्रतीति करना। उसमें से केवलज्ञानादि चतुष्टय एवं पञ्च-परमेष्ठी पद की उत्पत्ति होती है। अन्तर में असाधारण स्वभाव भरा है, उसके साधन से-उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्राप्त होता है। बाहुबली भगवान ने अपने ऐसे ध्रुव स्वभाव में से केवलज्ञान प्रगट किया,—न कि वज्रकायवाले बलवान शरीर में से। एक ही अबाधित सिद्धान्त है कि सर्वशक्ति का धाम, ऐसा जो अपना आत्मस्वभाव, उसमें अन्तर्मुख होकर, उसी के ही अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष सध जाता है, अन्य कोई मार्ग नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं।

[5]

पाँचवाँ प्रवचन

भगवान के सर्व उपदेश का सार शुद्धात्म सन्मुखता

[वीर सं० २४८८-आश्विन शुक्ल १]

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसका अन्तर्मुख अनुभव करना, यह ज्ञान का सार है और यही मोक्षार्थी जीव का कर्तव्य है। उसका यह वर्णन है। प्रथम शुद्धात्मा की श्रद्धा से शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगट करने से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हुए श्री तारणस्वामी कहते हैं कि :—

शुद्धं च सर्व शुद्धं च, सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।
शुद्धात्मा शुद्ध ध्यानस्य, शुद्धं सम्यग्दर्शनं॥५९॥

शुद्ध-सर्व पदार्थों में शुद्ध और सारभूत सर्वज्ञस्वरूप अविनाशी चैतन्य पद है। यह चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा ही शुद्ध ध्यान का ध्येय है। ऐसे शुद्धात्मा का ध्यान ही शुद्ध-निश्चयसम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्धात्मा को स्वसंवेदन में लेकर उसकी प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्धात्मा को जानकर उसकी भावना करना, वही बारह अंगरूप (द्वादशांग) सर्वश्रुत ज्ञान का सार है। ऐसे शुद्धात्मा का जो अनुभव करता है, वही मोक्षमार्गी है, वही मोक्षमार्ग को साधता है। मोक्षमार्ग, शुद्धात्मा के अनुभव से साधा जाता है।

भैया! पहले निश्चित तो कर कि तेरा ध्येय क्या है? श्रद्धा में और अनुभव में लेने योग्य चीज क्या है? यही बात यहाँ पर बताते हैं।

इस जगत में जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ऐसे छह शुद्ध द्रव्य हैं। उनमें भी शुद्ध श्रेष्ठ-उत्तम तो सर्वज्ञस्वभावी आनन्दमूर्ति आत्मा ही है। जगत का जाननेवाला जीव ही जगत के पदार्थों में उत्तम और सारभूत है। विभावरहित सर्वज्ञस्वभावी शुद्ध आत्मा सारभूत है —उसकी प्रतीति और अनुभव करना ही शुद्ध मोक्षमार्ग है। यह देह तो जड़ है, अपने भीतर के रागादि मलिनभाव भी साररूप नहीं हैं। अन्तरङ्ग में सर्वज्ञता की सामर्थ्य से भरा हुआ अविनाशी आत्मा ही शुद्ध और सारभूत है। उसमें अन्तर्मुख होने से अविनाशी सर्वज्ञ पद की प्राप्ति होती है। ऐसा शुद्ध आत्मा ही शुद्ध ध्यान का ध्येय है। उसकी अभिमुखता से निश्चयसम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी उसकी अभिमुखता से ही होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही शुद्ध आत्मा के ध्यान में समा जाते हैं। कोई शुभराग से सम्यग्दर्शनादि हो जाए - ऐसा कभी नहीं होता। राग तो परसमय है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति शुद्ध चैतन्यस्वभाव में अर्थात् स्वसमय में एकाग्रता से होती है। शुभाशुभ परिणाम में एकाग्रता, यह परसमय है, उसमें लाभ मानना मिथ्यात्व है। संसार का मूलकारण मिथ्यात्व है और मोक्ष का मूलकारण सम्यक्त्व है। सर्वज्ञशक्ति से भरपूर निजात्म में एकाग्र होकर, अभिमुख होकर, उसमें उपयोग लगाकर निर्विकल्प प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है। प्रत्येक मुमुक्षु को सबसे प्रथम उसका ही उद्यम करना निरन्तर कर्तव्य है।

'श्रावकाचार' में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि :—

विज्ञानं यो विजानन्ते, अप्पा पर परीक्षया।
परिचये अप्पसद्भावं, अन्तरात्मा परीक्षयेत्॥४९॥

आत्मा की और पर की परीक्षा करके जो जीव सूक्ष्मतापूर्वक दोनों का भेदविज्ञान करता है, वह भेदविज्ञान करके क्या करता है? वह शुद्ध सत्तास्वरूप अपने आत्मस्वभाव का परिचय करता है— अनुभव करता है, वह जीव अन्तरात्मा है—ऐसा जानिये।

आत्मा की और पर की परीक्षापूर्वक स्व-पर को यथार्थ जाननेवाला विज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। शरीरादिक से भिन्न और रागादिक परभावों से पार, ऐसा अपना पूर्ण सर्वज्ञ शाश्वत पद क्या है—इसको अन्तर में परीक्षापूर्वक निर्णय करके स्वानुभव से पहचानना चाहिए। ऐसा करे, तब ही सम्यग्ज्ञान होता है और मोक्षमार्ग साधने में आता है।

चेतन क्या और जड़ क्या? आत्मा क्या और पर क्या? स्वभाव क्या और विभाव क्या? आस्रव-बन्ध क्या और संवर-निर्जरा क्या है? सर्वज्ञता कैसी है? और उपादान-निमित्त कौन है?—ऐसे सब तत्त्वों को परीक्षा से, युक्ति से, न्याय से पहचानकर शुद्ध आत्मा का निर्णय करना चाहिए और इसके निर्णयपूर्वक अन्तर में परिचय से - यही अन्तरात्मा है, यही मेरा स्वभाव है, यही मैं हूँ और ऐसा मेरा स्वतत्व ही सारभूत है—ऐसी प्रतीति और अनुभव करना, यह सम्यग्ज्ञान की रीति है। अन्तर में लगन जागृत होना चाहिए कि सभी सन्त 'शुद्धात्मा' 'शुद्धात्मा' कहते हैं, तो यह वस्तु अन्तर में क्या है? ऐसी लगनपूर्वक अन्तर में परिचय करके खोज करना

चाहिए। ऐसी लगनपूर्वक अन्तर शोध करने से आत्मा की प्राप्ति (अनुभव) अवश्य होगी।

आत्मा को नहीं जाननेवाला बहिरात्मा क्या करता है ? श्री तारणस्वामी श्रावकाचार ग्रन्थ की गाथा ५० में कहते हैं कि —

बहिरप्पा पुद्गल दृष्ट्वा रचनं आनन्द भावना।
पर पंचं येन तिष्ठंते, संसारे स्थिति वर्द्धनं॥५०॥

चैतन्य के आनन्द को नहीं देखनेवाला बहिरात्मा, पुद्गलों को देखकर उनमें आनन्द की भावना रचता है, इन्द्रिय विषयों में सुख मानता है, जड़ विषयों में मग्नता से उसे जगत का प्रपंच लगा रहता है, जिससे संसार की स्थिति बढ़ती है। भेदज्ञान के बिना संसार-परिभ्रमण चलता ही रहता है।

बहिरात्मा, पुद्गल में आनन्द की कल्पना रचता है कि इसमें मेरा आनन्द है। ऐसी मिथ्या कल्पना से वह जड़ का स्वामी होता है। किन्तु अरे भाई! जड़ का तो स्वामी जड़ होता है। जिसका जो स्वामी होता है, वह उसी की जाति का है। यदि पुद्गल तेरा स्व हो और तू पुद्गल का स्वामी हो तो तू पुद्गलमय हो जाये! धर्मात्मा जानता है कि मैं तो चैतन्यमूर्ति ज्ञाता ही हूँ और पुद्गल मुझसे बिल्कुल पृथक हैं, वह मेरा स्व नहीं, मैं उनका स्वामी नहीं, उसमें मेरा सुख नहीं, उसमें मेरा आनन्द नहीं; मेरा आननद तो मेरे पास ही है।

परिग्रह कभी मेरा बने तो मैं अजीव बनूँ अरे।
मैं नियम से ज्ञाता हि इससे नहीं परिग्रह मुझ बने॥

(समयसार, गाथा २०८)

मोक्षाभिलाषी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि एक ज्ञायक

-भाव ही मेरा 'स्व' है और उसका ही मैं स्वामी हूँ। इसके अतिरिक्त किसी भी परद्रव्य का या परभाव का स्वामी मैं नहीं हूँ और न वे मेरे 'स्व' हैं। अज्ञानी ने कल्पना से पर मैं आनन्द मान रखा है और पर को अपना माना है; इसलिए वह संसार के परभाव के अनेकों प्रपंच खड़ा करता है और संसारचक्र में रुकता है। इसलिए परीक्षा पूर्वक स्व-पर की भिन्नता जान, शुद्ध चैतन्य को ही 'स्व' जानकर उसका अनुभव करना ही संसार भ्रमण से छूटने का उपाय है। शुद्ध आत्मतत्व की अनुभूति ही संसार से तारनहार है।

श्री तारणस्वामी कहते हैं कि जिसको चैतन्य का उत्साह नहीं है और पुण्य का जो उत्साह करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसने मोह -रूपी मदिरा पी ली है —

शुद्ध तत्वं न वेदंते, अशुद्धं शुद्ध गीयते।
मद्ये ममता भावेन, मद्य दोषं तथा बुधैः ॥११६॥

(तारण तरण श्रावगाचार)

जो जीव शुद्ध आत्मतत्त्व को न तो जानता है और न अनुभवता है और रागादि अशुद्ध तत्त्व को ही शुद्ध समझता है, वह ममताभावरूप मद्य का पान करता है, इससे बुधजन उसे मदिरापान के दोषयुक्त कहते हैं। जो जीव, शुभराग में धर्म मानकर सन्तुष्ट है और आत्मशुद्धि का उद्यम नहीं करता है, वह परमार्थ से मदिरापान करता है। मोह मदिरा में उन्मत्त वर्तता वह जीव, जिनेन्द्र भगवान कथित उपदेश का श्रद्धान नहीं करता। वह सदा रागादि की भावना में वर्तता है और मिथ्या कल्पना से असत्य को सत्य मानता है। ऐसा मिथ्यात्व का महादोष है। उसमें परमार्थ से सातों व्यसन समाये हुए हैं।

जो शुद्ध तत्व को नहीं जानता और अशुद्ध को (राग को, पुण्य

को) शुद्ध कहता है, रागसहित अशुद्ध आत्मा की प्रशंसा करता है, राग को हितकारी मानकर उसके गान गाता है, वह मोह मदिरा का पान करनेवाला है, पागल है—ऐसा जीव, जिनोक्त शुद्ध तत्व को साधता नहीं है।

जिनोक्तं शुद्ध तत्वार्थं न साधयन्त्य व्रती व्रती।
अज्ञानी मिथ्या ममत्वस्य मद्ये आरूढते सदा॥११७॥

चाहे अव्रती हो, चाहे व्रतधारी हो, किन्तु जो जीव जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए शुद्ध आत्मतत्व को नहीं साधता, वह अज्ञानी जीव मिथ्यात्वरूपी मोह मदिरा में लीन है। उसी प्रकार देह-बुद्धि से इस देहादि मांसपिण्ड को अपना मानना, वह परमार्थ से माँसाहार दोष है। शुद्ध चैतन्यरूप स्वतत्त्व को भूलकर जिसकी बुद्धि परतत्त्व में परिभ्रमण करती है, उसकी बुद्धि व्यभिचारिणी है और वह परमार्थ से वैश्यागमन का दोष है। इस प्रकार मिथ्यात्व ही सर्व दोषों का मूल है।

यहाँ 'ज्ञानसमुच्चयसार' की ६० वीं गाथा में कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ही चौदह पूर्व का सार है —

पूर्वं पूर्व परं जिनोक्त परमं पूर्वं परं शाश्वतं।
पूर्व धर्मधुरा धरंति मुनयो, शुद्धं च शुद्धात्मनं॥
शुद्धं सम्यग्दर्शनं च समयं, प्रोक्तं च पूर्वं जिनं।
ज्ञानं चरण समं स्वयं च अमलं सम्यक्त बीजं बुधैः॥६०॥

जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए प्राचीन रूप जो चौदह पूर्व है, वह उत्कृष्ट अविनाशी है, उसका वाच्य जो शुद्ध आत्मा, वह उत्कृष्ट अविनाशी है। इन पूर्व के ज्ञानरूप धर्म की धुरा से मुनिगण निर्मल शुद्धात्मा को धारण करते हैं। चौदह पूर्व के साररूप जो शुद्धात्मा है,

उसका अनुभव ही निश्चय से शुद्ध-सम्यग्दर्शन हैं, वही स्वसमय है, वही जिनशासन है,—ऐसा प्राचीन काल से जिन भगवन्तों ने कहा है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का बीज निर्मल सम्यग्दर्शन है—ऐसा बुधजनों ने कहा है।

जिनवाणी के भेदरूप जो चौदह पूर्व हैं, वे अनादि काल से सर्वज्ञ-परम्परा से चले आये हैं; इसलिए प्राचीन हैं। आत्मस्वरूप को साधकर पूर्णता को प्राप्त करनेवाले और उसका उपदेश देनेवाले तीर्थङ्कर अनादि काल से सदैव होते ही आ रहे हैं और गणधर उनकी वाणी को झेलकर १२ अङ्ग १४ पूर्व अनादि परम्परा से रचते आये हैं। उसके द्वारा सन्त मुनि और धर्मात्मा लोग धर्म की धुरारूप शुद्धात्मा को धारण करते हैं। देखो! यह १४ पूर्व का सार दिखाया। शुद्ध आत्मा ही १४ पूर्व का सार है। मुनिवरों ने वह निकालकर उसका पान किया। समस्त श्रुतज्ञान के समुद्र का मन्थन करके शुद्धात्मारूप अमृत बाहर निकाला, शुद्ध चैतन्यरत्न प्राप्त किया। ऐसे शुद्धात्मा की प्रतीत ही 'समय का सार' है, वही ज्ञान का सार है। चौदह पूर्वरूप जो सर्व श्रुतज्ञान, उस 'ज्ञान का समुच्चयसार' क्या है ? —शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सर्वज्ञान का सार है।

अहो! शुद्धात्मा की कहानी प्राचीनकाल से चली आ रही है, तीर्थङ्कर उसे कहते आये हैं, गणधर उसे झेलते आये हैं और सन्त धर्मात्मा लोग उसका अनुभव करते आये हैं और उपदेश में यही कहते आये हैं। ज्ञानियों, धर्मात्माओं, विचक्षण पुरुषों और मुमुक्षुओं को वह शुद्धात्मा ही जानने योग्य है। जिसने शुद्धात्मा को जाना, उसने समस्त जिनशासन को जाना। जिनशासन के सकल श्रुत का वह पारंगत हुआ।

अब, गाथा ३१३ में श्री तारणस्वामी यह बताते हैं कि सामायिक किसको कहते हैं ?

सामाइयं च उत्तं, अप्पा परमप्पा सम्म संजुत्तं।
समयंति अर्थं शुद्धं साम्यं सामाइयं जानं॥३१३॥

(—ज्ञानसमुच्चयसार)

सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा को परमात्मा के समान जानना, उसे सामायिक कहा जाता है। शुद्धात्मा को जो साम्यरूप करे, उसी को सामायिक समझो।

पहले तो सम्यग्दर्शनसहित हो, आत्मा को परमात्मा के तुल्य जाने, '**अप्पा परमप्पा समं**' ऐसे स्वानुभव से अपने को परमात्म-स्वरूप जाने और उसमें एकाग्रता से वीतरागभाव प्रगट करके आत्मा को समतारूप करे, उसको भगवान ने सामायिक कहा है। आत्मा को जाने बिना अकेले शुभराग से दो घड़ी बैठा रहे,उसको तो भगवान सामायिक नहीं कहते, क्योंकि समातभाव की उसमें प्राप्ति नहीं है।

गाथा ३१४ में कहते हैं कि —

ती अर्थ सुद्ध सुद्धं, सम सामाइयं च सं सुद्धं।
परिनै सुद्ध ति अर्थं, परिनामं सुद्धसमयसुद्धं च॥३१४॥

जहाँ रत्नत्रय धर्म का निश्चयनय से शुद्ध विचार हो, जहाँ समताभाव हो, वही शुद्ध सामायिक है। जहाँ शुद्ध रत्नत्रयरूप परिणमन हो, जहाँ परिणाम शुद्ध हो, वही सच्ची सामायिक है।

समय अर्थात् आत्मा। शुद्धात्मा को जानकर उसका अनुभव करना, इसी का नाम सामायिक है। 'निश्चयरत्नत्रय शुद्ध आत्मा

के अनुभवरूप ही एक शुद्ध परिणमन है, वही समताभाव है, वही आत्मा की शुद्धता है, वही सच्ची सामायिक है।'

पुण्य-पाप दोनों ही विषम भाव हैं, उन दोनों से परे शुद्धात्मा की दृष्टि से धर्मी को जो समभाव प्रगटा है, वही वीतरागी सामायिक है। व्यवहार करते-करते निश्चय सामायिक हो जाएगी—ऐसा कोई कहे तो यहाँ उसका विरोध करते हैं कि शुद्धात्मा के अनुभव के बिना सामायिक नहीं हो सकती।

गाथा ३१५ में कहते हैं कि —

समरूवं सम दिट्ठं, सम सामाइयं च जिन उत्तं।
मन चवलं सुद्ध थिरं, अप्प सरूवं च सुद्ध सम सुद्धं ॥३१५॥

जहाँ समतामय रूप हो, जहाँ समतामय दृष्टि हो, जहाँ समभाव हो, वही जिनोक्त सामायिक है। जहाँ चंचल मन स्थिर होकर शुद्धोपयोग में लीन हो और जहाँ शुद्ध समभावरूप आत्मस्वरूप अनुभव में आवे, वही सामायिक है। समतादृष्टि अर्थात् वीतरागी स्वभाव की दृष्टिपूर्वक वीतरागीस्वरूप के अनुभव में लीनता से जहाँ शुद्धोपयोग हो-स्थिरता का समभाव हो, उसे जिनोत्तम भगवान ने सामायिक कहा है। (वैसे ही प्रौषध, रात्रिभोजन त्याग, ब्रह्मचर्य आदि का भी अध्यात्मशैली से वर्णन किया है)। ब्रह्मचर्य प्रतिमा ब्रह्मस्वरूप है, जिसमें कि आत्मा परमात्मा-तुल्य शुद्ध ध्यान में आता है। (देखिये गाथा ३२४)

अब गुरु कैसे हों और उनका उपदेश कैसा हो, यह बात बताते हुए श्री तारणस्वामी 'उपदेश शुद्धसार' ग्रन्थ में कहते हैं कि—

गुरु उवएस च उत्तं सूक्ष्म परिणाम कम्म संषिपनं।
गुरुं च विमल सहावं, दर्शन मोहांध समल गुरुवं च ॥१८३॥

(इसके अतिरिक्त आगे-पीछे भी अन्य गाथाओं में गुरु का स्वरूप दर्शाया है।)

गुरु महाराज ऐसा उपदेश देते हैं कि जिससे सूक्ष्म अतीन्द्रिय आत्मा की शुद्धोपयोग परिणति का ज्ञान हो जाए, और जिस परिणति में रमण करने से कर्मों का क्षय हो जाए। गुरु की आत्मा विमलस्वभावी है, मिथ्यात्वादि दोषों से रहित है, किन्तु मिथ्यादृष्टि लोग मोह से अन्ध होकर कुगुरु को गुरु मानते हैं। जो राग से धर्म मनावें, बाह्य क्रिया से या निमित्त इत्यादि पर के आश्रय से धर्म मनावें, ऐसे जो उपदेश हैं, वे कुगुरु के उपदेश हैं, और ऐसे कुगुरुओं की अनुमोदना करनेवाला मोहांध जीव दुर्गति में, नरक-निगोद में जाता है, ऐसा गाथा १८८-८९-९० में श्री तारणस्वामी ने कहा है।

वस्त्रादि तिलतुषमात्र परिग्रह धारण करके जो अपने मुनि मानता है, वह जीव दर्शनभ्रष्ट होकर निगोद में जाता है—ऐसा कथन 'अष्टप्राभृत' में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है, उसी शैली से यहाँ श्री तारणस्वामी ने कहा है कि कुगुरु की अनुमोदना करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव, नरक-निगोदरूप दुर्गति में पड़ता है।

यहाँ तो कहते हैं कि गुरु वह है जो गुप्त आध्यात्मिक तत्व का उपदेश देते हैं। गुरु में ज्ञान-दर्शन की मुख्यता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही सूक्ष्म परिणाम हैं, अतीन्द्रिय हैं और वे शुद्धोपयोग परिणति हैं। ऐसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय शुद्धोपयोग परिणाम जिससे प्रगटें - ऐसा ही उपदेश गुरु देते हैं और ऐसे सम्यग्दर्शनादि सूक्ष्म परिणाम से ही कर्म का नाश होता है।

देखो, यह गुरु का उपदेश! सम्यग्दर्शनादि सूक्ष्म परिणाम हैं

और पुण्य-पाप के भाव स्थूल परिणाम हैं। उन स्थूल परिणामों के द्वारा कर्म का नाश नहीं होता। गुरु ऐसा उपदेश नहीं देते कि शुभराग से धर्म हो। गुरु तो ऐसा ही उपदेश देते हैं, जो समझने से अतीन्द्रिय आत्मा की शुद्ध परिणति प्रगटे। समयसार (गाथा १५४) में पुण्य-परिणाम को भी अत्यन्त स्थूल परिणाम कहा है, उसमें अतीन्द्रिय चैतन्य की शुद्धता नहीं है और न उसके द्वारा कर्म का क्षय या संवर-निर्जरा भी होता है। सम्यग्दर्शनादि जो सूक्ष्म अतीन्द्रिय शुद्ध परिणति है, उसमें रमणता से ही कर्म का क्षय होता है। राग-सन्मुख परिणाम स्थूल है, अशुद्ध है, और शुद्धात्म-सन्मुख परिणाम शुद्ध है, सूक्ष्म है। सन्त गुरु धर्मात्माओं ने ऐसे सूक्ष्म परिणाम का (सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र का) उपदेश दिया है। निर्मल स्वभाव उनके अनुभव में आया है, इससे वे गुरु स्वयं विमल-स्वभावी हैं। जिसने चैतन्यस्वभाव का अनुभव नहीं किया और रागादि अशुद्ध परिणाम से जिसने धर्म माना, वह समल गुरु है, कुगुरु है और ऐसे कुगुरु को गुरु माननेवाला जीव, मोह से अन्धा है।

देखो! भगवान के 'उपदेश का शुद्धसार' क्या है? कि सूक्ष्म अतीन्द्रिय शुद्ध परिणाम प्रगट करना, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना, यही उपदेश का सार है। नियमसार (गाथा २-३) में भी कहा है कि जिनवर शासन में शुद्ध रत्नत्रयरूप परम निरपेक्ष मार्ग का और उसके फलरूप स्वात्मोपलब्धिस्वरूप मोक्ष का कथन किया है। 'नियम' अर्थात् नियम से अवश्य करने योग्य ऐसा रत्नत्रय, यह मोक्षमार्ग है। शुद्ध रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहकर उससे विपरीत ऐसे अशुद्ध व्यवहार का मोक्षमार्ग में से परिहार किया है। जो ऐसे शुद्ध रत्नत्रय-मार्ग का उपदेश दे, वही गुरु सच्चा

है। जिनसे कर्म का बन्धन हो, ऐसे भाव को आदरणीय कहनेवाला उपदेश सच्चा नहीं। कर्म, जीव को रोकता है – ऐसा न कहे, किन्तु पुरुषार्थ के द्वारा शुद्ध परिणाम से कर्म का नाश होना बतावे, वही सच्चा उपदेश है। मोक्षमार्ग से विपरीत सब भाव जिसके गल गए हैं-नष्ट हो गए हैं, ऐसे गुरु शुद्धभाव का उपदेश देते हैं। शुद्धभाव, शुद्ध आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होता है, इसलिए शुद्धात्मस्वभाव के सन्मुख होने का श्रीगुरु का उपदेश है। 'शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञान मैं हूँ'—ऐसी सानुभव प्रतीति और ज्ञान की गुरु को मुख्यता है। रागादि से लाभ मानें – ऐसा गुरु का (धर्मात्मा का) स्वभाव नहीं है।

स्वभाव का उत्साह छोड़कर परभाव का उत्साह आवे, वह मिथ्यात्व का चिह्न है। पञ्च महाव्रतादि के शुभराग हों भले, किन्तु गुरु उसे परभाव समझते हैं, उसे वे धर्म नहीं मानते। छठवें गुणस्थान में महाव्रत का शुभ विकल्प होता है, किन्तु उसके कारण से कहीं शुद्धोपयोग नहीं होता। महाव्रत के शुभराग के कारण से शुद्धोपयोग हो—ऐसा जो माने, उसको गुरु के स्वरूप की पहचान नहीं है, मुनि के स्वरूप की पहचान नहीं है, और धर्म क्या है, उसका भी उसको ज्ञान नहीं है। राग को जो धर्म माने, उसका राग की ओर का उत्साह छूटता नहीं और वह स्वभाव की ओर झुकता नहीं है।

गुरु तो आत्मानुभव के मार्ग पर चलनेवाले हैं और उसी का उपदेश देनेवाले हैं। सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक से वे सारे लोक का स्वरूप प्रकाशित करते हैं। चारित्रवन्त गुरु, वस्त्रादि के परिग्रह से रहित हैं और अन्दर चैतन्य के ऊपर राग का भी आच्छादन नहीं है। रागरूप वस्त्र छोड़कर उन्होंने शुद्धात्मा को व्यक्त-स्पष्ट किया है।

गुरुं सहाव सउत्तं, रागं दोसंपि गारवं त्यक्तम्।
ज्ञानमई उवएसं, दंर्सनं मोहंध राय मय गुरुवम्॥१८६॥
गुरुं च दर्सन मइओ, गुरुं च ज्ञान चरन संयुत्तो।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, दर्सन मोहंध सल्य गुरुवं च॥१८७॥
दर्सन मोह अदर्सं, गुरु अगुरं च ज्ञान विज्ञानम्।
गुरं च गुनं नहिं पिच्छं, अगुरुं अनुमोय दुग्गए पत्तम॥१८८॥
गुरु च लष्य अलष्यं, अगुरं संसार सरनि उत्तं च।
गुन दोसं नवि जानइ, दर्सन मोहंध नरय वीयम्मि॥१८९॥
गुरुं च षिपनिक रूवं, अगुरं अभाव समल उत्तं च।
तस्य गुन अनुमोयं, दर्सन मोहंध निगोय वासम्मि॥१९०॥

(—उपदेश शुद्धसार)

१८६वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि— गुरु ज्ञानमय उपदेश देते हैं, 'आत्मा ज्ञानस्वभावी है' ऐसा बताकर उसकी ओर झुकने का उपदेश देते हैं, रागमय उपदेश नहीं देते, राग से लाभ नहीं मनाते। ज्ञानस्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तीनों ज्ञानमय हैं, रागमय नहीं। ऐसे राग रहित श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का जो उपदेश है, वही ज्ञानमय उपदेश है और ऐसा उपदेश गुरु देते हैं। जो सरागी हों अर्थात् राग से धर्म मानते हों, ऐसे कुगुरु को गुरु मानकर आदर देनेवाला जीव, मोहान्ध है।

और भी कहते हैं कि गुरु वही है जो सम्यग्दर्शन का धारी है, गुरु वही है, जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सहित है, जिसमें कोई मिथ्यात्व की शल्य नहीं है। मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्व-शल्यधारी को गुरु मान लेता है। '**अगुरं अनुमोय दुग्गये पत्तम्**' कुगुरु की अनुमोदना से दुर्गति होती है..... वह मोहांध जीव नरक-निगोद में जाता है। (देखो गाथा १८७ से १९०)

इस प्रकार गुरु का स्वरूप दिखाया, और वे कैसा उपदेश करते हैं, यह दिखाया। अब शास्त्र की बात दिखाते हैं।

श्रुतं च श्रुत उववन्नं श्रुतं च ज्ञान दंसण समग्गम्।
श्रुतं च मग्ग उवएसं, दर्शन मोहंध कुश्रुतं अनुमोयम्॥१९१॥

भगवान की द्वादशाङ्ग वाणी से उत्पन्न शास्त्र में ज्ञान-दर्शन सहित मोक्षमार्ग का उपदेश है। भगवान की वाणी से उत्पन्न हुए शास्त्र में परम निरपेक्ष वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश है। भगवान ने मोक्षमार्गरूप से निश्चयरत्नत्रय को ही दिखाया है, उसकी जगह राग से मोक्षमार्ग होने की बात जो कहे, वह शास्त्र भगवान के उपदेश का नहीं है, किन्तु मिथ्यादृष्टि के द्वारा रचा हुआ वह कुशास्त्र है। मोहांध जीव ऐसे कुशास्त्र का अनुमोदन करता है। कैसे हैं ये कुशास्त्र? कि संसार-मार्ग की पुष्टि करनेवाले हैं। और भगवान के कहे हुए शास्त्र तो मोक्षमार्ग का उपदेश देनेवाले हैं। राग से धर्म मनाकर राग की पुष्टि करावे, वह तो विकथा है। अज्ञानी ऐसी विकथा को शास्त्र मानते हैं, किन्तु वह शास्त्र नहीं, कुशास्त्र हैं।

आगे, ज्ञानसमुच्चयसार में जो शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप दिखाया है,उसमें गाथा ६१ में कहते हैं कि —

विश्व पूर्व च शुद्धं च, शुद्ध तत्वं समं ध्रुवं।
शुद्धं ज्ञानं च चरणं च, लोकालोकं च लोकितं॥६१॥

साम्यभावरूप शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति, यही १४ पूर्वों का सार है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्धात्मतत्व, यही पूर्व -अङ्गरूप सर्व श्रुतज्ञान का सार है। निर्दोष १४ पूर्व लोकालोक के स्वरूप का प्रकाशक है, उसमें साररूप शुद्ध आत्मा है।

पञ्चास्तिकाय में कहा है कि वीतरागता ही शास्त्र का तात्पर्य है। भगवान परमेश्वर सर्वज्ञ परमात्मा के कहे हुए जो सर्व-शास्त्र, उसका तात्पर्य परमार्थ से वीतरागता ही है। वीतरागता ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

स्वभाव के सन्मुख होना और परभाव से पराङ्मुख होना, यही सर्व शास्त्रों का और भगवान की वाणी का तात्पर्य है। भगवान के कहे हुए चारों अनुयोगों में ऐसे वीतरागी तात्पर्य का ही उपदेश है। राग के द्वारा कभी भी वीतरागता नहीं होती। जो राग का पोषण करे, वह उपदेश भगवान का नहीं।

श्री तारणस्वामी ने अपने शास्त्रों में स्थान-स्थान पर अध्यात्म-शैली से देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप दिखाकर उनका आदर और बहुमान किया है, उसी में सब व्यवहार आ जाता है, किन्तु मुख्य (मूलभूत) उपदेश शुद्ध आत्मा की सन्मुखता का है। चौदह पूर्व का सार वीतरागता है। वीतरागता कहो या निश्चयसम्यग्दर्शन -सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र, ये तीनों ही वीतराग हैं। उनकी आराधना का ही उपदेश वीतराग मार्ग में दिया है। चौदह पूर्व में अन्तिम पूर्व का नाम 'लोक बिन्दुसार' है। चौदह पूर्व में लोकालोक सबका स्वरूप दिखाया, किन्तु उसमें सारभूत तो एक शुद्धात्मतत्व ही कहा है। सारभूत उस शुद्धात्मतत्व के ज्ञान के बिना सब निःसार और निष्फल है।

सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य क्रिया में—जल गालन आदि में धर्म मानकर अज्ञानी रुक जाता है। श्री तारणस्वामी ज्ञानसमुच्चयसार की गाथा २९० में कहते हैं कि —

जल गालन उवएसं, प्रथमं सम्मत्त सुद्ध भावस्स।
चित्तं सुद्ध गलंतं, पच्छिदो जलं च गालम्मि॥२९०॥

(—ज्ञानसमुच्चयसार)

श्रावक को पानी छानकर पीने का उपदेश है, परन्तु पहले यह आवश्यक है कि उसके भावों में शुद्ध सम्यग्दर्शन हो, अपने चित्त को दोषों से हटाकर साफ करें, अर्थात् अपने चित्त को गालकर परभावों से पृथक् करे। ऐसी चित्तशुद्धि के साथ पानी छानकर पीवे। भेदज्ञानरूपी छन्ने से छानकर विभावों से पृथक् करके शुद्ध शान्त चैतन्य-जल का पान करे। सम्यक्त्वरूप शुद्धभाव से चित्त को गालना-शुद्ध करना, यही परमार्थ जल-गालन है। जिसने शुद्ध सम्यक्त्व से छानकर विभावों को शुद्धात्मा में से निकाल दिया है और शुद्ध चैतन्य-रस को जो वेदता है, उसी को परमार्थ जल-गालन है। बाहर के जल-गालन आदि क्रियाकाण्ड में ही धर्म समझकर रुक जाए, और अन्दर में अपने चैतन्यजल को भेदज्ञान -रूपी छन्ने से छानकर परभाव से पृथक् न करे तो उसे धर्म का लाभ नहीं होता। वह बाहर में जड़ की क्रिया का अभिमान करता है, परन्तु अन्दर में तो मिथ्यात्वरूप मल से अनछने जल को ही वह पीता है।

जिसने अपने चित्त में स्वभाव और राग दोनों को भेदज्ञानरूपी छन्ने से छानकर अलग-अलग नहीं किया, उसने परमार्थ से जल-गालन नहीं किया, क्योंकि —

मन शुद्धं चित्त गलनं, भाव शुद्धं च चेयना भावं।
चेयन सहित सुभावं, जल गालन तंपि जानेहि॥२९१॥

(—ज्ञानसमुच्चयसार)

मन को शुद्ध रखना, चित्त का जल-गालन है। शुद्धभाव में रहकर चेतना का अनुभव करना, चेतनासहित सम्यक्भाव में परिणमना, उसे परमार्थ जल-गालन समझो। स्व-सन्मुख होकर जिसने चैतन्य जल को शुद्ध किया और मिथ्यात्वादि मैल को दूर किया, उसने सच्ची शुद्धि की। ऐसी भावशुद्धि के बिना सब ही क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं। राग को चैतन्य में मिलाकर एकमेकरूप से जो अनुभवता है, वह अनछना ही जल पीता है, ज्ञानजल को उसने छाना नहीं, ज्ञान-जल को वह मलिन ही अनुभवता है।

समयसार, गाथा-११ में भी जल का दृष्टान्त देते हुए कहा है —जैसे, प्रबल कादव के मिलने से जिसका निर्मलभाव आच्छादित हो रहा है, ऐसे जल का जल और कादव का विवेक (पृथक्करण) नहीं करतेवाले बहुत जन तो (जल को) मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु विवेकीजन तो अपने हाथ से कतकफल (निर्मली औषधि) डालकर, कादव रहित शुद्ध जल का अनुभव करते हैं; उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध स्वभाव परभावरूप कादव से ढँक रहा है, जिसको भेदज्ञानरूपी विवेक नहीं है और जिसका चित्त व्यवहार में ही विमोहित है—ऐसा अज्ञानीजन तो आत्मा को अशुद्ध अनुभवता है, परन्तु भूतार्थदर्शी सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी तो अपनी बुद्धि से, अपने पुरुषार्थ से शुद्धनय-अनुसार बोध करके, आत्मा को शुद्ध ज्ञायकभावरूप अनुभवता है। यह शुद्धनय अन्तर में स्वभाव और विभाव को छानने का छन्ना है। यदि सम्यग्दर्शनादि भावशुद्धि के सहित हो, तब तो जल-गालन आदि के शुभभाव को व्यवहार कहने में आ सकता है, परन्तु भावशुद्धि न करे तो निश्चय के बिना उसके क्रियाकाण्ड को व्यवहार भी नहीं कहते, और वह करते-करते कभी धर्म हो जाएगा - ऐसा नहीं है।

जल-गालन की तरह ही रात्रि-भोजन-त्याग के बारे में भी कहते हैं कि —

अनस्तमित उवएसं, पढमं सम्मत्त चरन संजुत्तं।
जस्य न अस्तं दिट्ठं, तस्यन मिथ्यादि भावमप्पानं ॥२९२॥

(—ज्ञानसमुच्चयसार)

श्रावक को रात्रि भोजन-त्याग का उपदेश है। जिसमें सम्यक्त्व सूर्य अस्त हो गया है और अज्ञानरूपी रात्रि छा गई है, ऐसा जो मिथ्यात्वादि परभावों का भोजन, वही परमार्थ से रात्रि-भोजन है। ऐसे रात्रि-भोजन के महापाप के त्याग के अर्थ प्रथम तो श्रावक को सम्यग्दर्शन और अपने योग्य आचरणबुद्धि होना चाहिए। जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य झलक रहा है, उसे परभावरूप रात्रि-भोजन का त्याग है और सम्यक्त्व-सूर्य जिसका अस्त हो गया है, उसकी आत्मा में सदैव रात्रि ही है, इसलिए उसे तो सदैव रात्रि-भोजन ही है। इस प्रकार सच्ची रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है। सम्यक्त्व की शुद्धि के पश्चात् ही सब प्रकार की शुद्धि होती है।

गाथा २९३ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि —

अप्पानं अप्पानं सुद्धप्पा भाव अमल परमप्पा।
एवं जिनेहि भनियं, अनस्तमितं तं पि जानेहि ॥२९३॥

(—ज्ञानसमुच्चयसार)

जो अपने शुद्ध आत्मा को जानता है और परमात्मस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान अनुभवसहित है, ऐसे निर्मलभाववाले जीव को रात्रि-भोजन का त्यागी जानो, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। व्यवहार में जो रात्रि-भोजन नहीं करता और निश्चय से जिसकी

आत्मा में अन्धकार नहीं—मिथ्यात्वरूपी रात्रि नहीं, जो ज्ञानसूर्य के प्रकाश में सदैव आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करते हैं, उसे रात्रि-भोजन का त्याग है।

धर्मात्मा निरन्तर सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य के जगमगाते प्रकाश में चैतन्य के ध्यानरूप निर्दोष आहार करता है, उसे इन्द्रिय-रस का और रात्रि-भोजन का त्याग, राग है। राग के रस में जो लीन है, उसकी आत्मा में जो अज्ञानरूपी रात्रि ही है और वह सदैव रात्रि-भोजन ही करता है। परमात्मपना मेरी शक्ति के गर्भ में है, उसमें अन्तर-एकाग्रता के द्वारा मुझमें से ही परमात्मपद व्यक्त होगा, ऐसी प्रतीतिपूर्वक परभाव का त्याग होने पर रात्रि-भोजनादि की वृत्ति छूट जाए, उसका नाम रात्रि-भोजन-त्याग है। भावशुद्धिरहित अकेली बाह्य क्रिया को भगवान ने व्यवहार नहीं कहा है। भगवान ने तो मोक्षमार्ग में निश्चयसहित व्यवहार कहा है। निश्चय-भावशुद्धि के बिना (सम्यग्दर्शनादि के बिना) जीव चाहे जितना क्रियाकाण्ड का व्यवहार करे तो भी उसमें किञ्चित्मात्र मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन जिसमें प्रधान है, मुख्य है, आगे है—ऐसा मोक्षमार्ग भगवान ने कहा है। यह जानकर मोक्षार्थी को सतत् प्रयत्न के द्वारा प्रथम सम्यग्दर्शन करना चाहिए।

[6]

छठवाँ प्रवचन

मोक्ष का साधक कहता है कि हे भगवान् आप मेरे साथ चलो

[वीर सं० २४८८-आश्विन शुक्ल २]

मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप आदि कोई धर्म-क्रिया यथार्थ नहीं होती। अज्ञानी को बिना सम्यग्दर्शन के व्रत-तप आदि सब क्रियायें, कष्ट ही हैं। यह बात श्री तारणस्वामी 'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' की ८८वीं गाथा में कहते हैं :—

ज्ञानहीनं कृतं येन व्रत तप क्रिया अनेकधा।
कष्टं निरो सहसे सोपि, मिथ्या विषय रञ्जितं॥८८॥

आत्मज्ञानमय श्रुतज्ञान के बिना जो अनेक तरह के व्रत-तप की क्रियायें करता है, वह केवल कष्ट को ही भोगता है, उसका परिणाम मिथ्या इन्द्रिय-विषयों में रंजायमान है, शुद्धात्मा में उसका परिणाम लगा नहीं है।

जिसको आत्मज्ञान नहीं होगा, उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव नहीं होगा। तब उसका सर्वचारित्र पालना, तप करना, मोक्ष के लिए साधनभूत नहीं होगा किन्तु मात्र कष्ट सहना होगा। सम्यग्दृष्टि तो आत्मा के आनन्द में मग्न रहने की चेष्टा करता है।

जिसको सम्यग्दर्शन नहीं है, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की

खबर नहीं, वह व्रतादि शुभराग की क्रिया करता हुआ भी मात्र कष्ट को ही सहता है, आकुलता को ही वेदता है; चैतन्य की शान्ति का वेदन उसको नहीं है। देखो! यह बात पाँच सौ वर्ष पहले श्री तारणस्वामी ने कही है। सम्यग्दर्शन मूलभूत चीज है, उसमें सम्पूर्ण आत्मा स्वीकार है, परन्तु लोगों को उसकी महिमा की खबर ही नहीं है और वे बाहर के क्रियाकाण्ड में फँसे हुए हैं। यहाँ कहते हैं कि भाई! तू सम्यग्दर्शन के बिना अकेले कष्ट को ही भोग रहा है। जहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं, जहाँ भावश्रुत सम्यग्ज्ञान नहीं, वहाँ मन्द -कषाय से चाहे जितना सहन करे तो भी वह सब मात्र कष्ट ही कष्ट है; वह मात्र राग में रंजायमान है। ज्ञान के बिना धर्म की क्रिया कैसी ?

किसी ने बाहर में वस्त्र छोड़ा किन्तु अन्तर में यदि अशुद्धता नहीं छोड़ी तो उसका वस्त्र का भी त्याग सच्चा नहीं है। अंडज वस्त्र कहने से हृदयरूपी कोष में भरे हुये जो अशुद्धभाव, उनमें जिसको रसिकपन है, वह वास्तव में अचेल नहीं किन्तु सचेल ही है।

बाहर में तो चर्मज, रोमज आदि सर्व प्रकार के वस्त्रों का जिसे परित्याग हो और अन्तर में मिथ्यात्व आदि अशुद्ध भावों का त्याग हो, वहीं मुनिदशा होती है।

गाथा ३८३-३८४-३८५ में श्री तारणस्वामी ज्ञानसमुच्चयसार में कहते हैं कि —

गुन रूव भेय विज्ञानं, ज्ञान सहावेन संजुत्त ध्रुव निश्र्चं।
मूलगुनं सं सुद्धं, उत्तर गुन धरइ निम्मलं विमलं॥३८३॥
उत्तर उर्ध सहावं, ऊर्ध सहाव विमल निम्मलं सहसा।
सुद्ध सहावं विच्छदि, उत्तरगुन धरंति सुद्ध स सहावं॥३८४॥

मूल उत्तर संसुद्धं, सुद्धं सम्मत्त सुद्ध तब यरनं।
तिक्तं चेल सहावं, सुद्धं सम्मत्त धरन संसुद्धं॥३८५॥

ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव जिस उपयोग से हो, उसको धारण करना, यह निश्चय से मूलगुण है, और पीछे उसी शुद्ध आत्मा के विशेष ध्यान से रागादि दोषों का नाश करके अति निर्मलता को धारण करना और उसको उत्तरोत्तर बढ़ाना, यही उत्तर गुण है।

धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना, यही धर्मात्मा का मूलगुण है और ऐसे मूलगुण के साथ आगे बढ़कर श्रेष्ठ आत्मस्वभाव को प्राप्त करना, केवलज्ञान प्रगट करना यह उत्तरगुण है। मूलगुण के बिना उत्तरगुण नहीं होते। जहाँ सम्यग्दर्शनरूपी मूलगुण नहीं होते, वहाँ चारित्र गुण नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा और अनात्मा का भेदज्ञान करके द्रव्यदृष्टि से आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव में लाना और शुद्ध परिणति प्रगट करना, यही मोक्षरूपी महाफल का देनेवाला जो आत्मधर्मरूपी वृक्ष उसका मूल है।

उसका ही यथार्थ साधुपना है कि जो निश्चय शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, जिसका मूलगुण व उत्तरगुण (अर्थात् दर्शन व चारित्र) शुद्ध है, शुद्धात्म-रमणतारूप आत्मतपन (आत्मशुद्धि की उग्रता, चैतन्य का प्रतपन) ही जिसका तप है और परभावरूप वस्त्र -परिधान के त्यागरूप जिसका स्वभाव है।

समताभावरूप परिणमन ही मोक्ष का साधन है। देखो! अपना साधन अपने में ही है। आत्मा के बन्ध का और मोक्ष का साधन आत्मा में ही है; बाहर में कारण या साधन नहीं है। आत्मा को अपना शुद्ध या अशुद्धभाव ही अपने मोक्ष का या बन्ध का साधन

है। भगवान की वाणी में ऐसा ही कारण दिखाया है कि अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप जो समभाव है, यही साधन है।

'ममलपाहुड़' भाग-२ (पृष्ठ ३८५ से ३९६) में कहते हैं कि जो अनन्त गुण के धारी हैं, जो कर्मविजयी हैं और जिसका पद विजयरूप है, ऐसे जिनपद की जय हो... जय हो! जिस पद के धारक जिनेन्द्रदेव ने कर्मों को सदैव के लिए जीत लिया है और जिस जिनपद से अब कभी भी पतन होने का नहीं, ऐसा यह जिनपद जयवन्त रहो। भव्य-जीवों को ही जो प्रगट होता है, ऐसा अनन्त अविनाशी शुद्ध पद जयवन्त रहे।

ऐसा जयवन्त जिनपद कैसे प्रगटे? क्या उसका साधन? तो कहते हैं कि शुद्धात्मा के अनुभवरूप साधन से वह जिनपद प्रगटता है। जब अन्तर में स्वानुभव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का प्रकाश करे, तब ऐसा जिनपद प्रगटे। शुद्धोपयोग के प्रताप से जिनपद प्रगटता है। इसप्रकार स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग ही जिनपद का साधन है, वही कारण है।

ज्ञानसूर्य का प्रकाश होने पर आत्मा समता-रस में मग्न होता है। ज्ञानसूर्य का उदय समभावरूप है, उसमें राग-द्वेष नहीं। ऐसे समभावी ज्ञानसूर्य का अभ्यास ही मोक्ष का साधन है। रत्नत्रय गर्भित स्वानुभव ही अरहन्तपद का साधक है। आत्मारूपी कमल का अनुभव ही स्व-चारित्र है और वही जिनपद का साधन है।

आत्मा का साधन आत्मारूप ही होता है। ऐसे साधन के अभ्यास से आत्मा स्वयं जिन हो जाता है, अन्य कोई रागादिभाव साधन नहीं है। एक ही प्रकार का साधन है। भयरहित ज्ञान-दर्शन-स्वभाव का अनुभव, यही एक स्थान है। शुद्धात्मा में रमणता

से साम्यभाव होता है, यही मोक्ष का साधन है। श्री तारणस्वामी कहते हैं कि अहो! ऐसे स्वभाव साधन से अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द सहित जो चैतन्य कमल खिला, उसकी जय हो!

देखिए... यह साधन! यही मोक्ष का सुन्दर साधन है, यही उत्तम कारण है, यही भगवान के उपदेश का अर्क है—सार है। कितनी स्पष्ट बात कही है! इसमें शुभराग को या बाहर की क्रिया को साधन मानने की बात ही कहाँ?

हितकारी करना उसका नाम 'करण'। क्या राग या व्यवहार का आश्रय हितकारी है?—नहीं; तो राग या व्यवहार करण नहीं है। शुद्धात्मा का अनुभव ही हिताकरी है, वही मोक्ष का सहकारी है, वह आनन्दमय है, वह शुद्ध है, वही सच्चा करण, सच्चा कर्तव्य और सच्चा साधन है। यहाँ प्रमोद से कहते हैं कि ऐसा आत्मा और ऐसा साधन जयरूप हो... विजयरूप हो...।

शुद्धात्मा का स्वानुभव ही भगवान की दिव्यवाणी का सार है; इसलिए कहा है कि जहाँ स्वानुभव किया, वहाँ आत्मा में दिव्यवाणी का प्रकाश हुआ और चैतन्य का अनहदनाद प्रगटा। आत्म-कमल में लीन होना, यही मोक्ष का सुन्दर साधन है, ऐसे आत्मिक साधन से परम हित का उदय होता है। ऐसा अनुभव ही योग्य वस्तु का अनुभव है। राग का अनुभव तो मोक्ष के लिए अयोग्य है। आत्मा का शुद्ध परिणमन ही मोक्ष का साधन है, दूसरा कोई साधन कहना, यह तो मात्र उपचार है, वास्तविक नहीं।

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, भूतार्थ के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है। यह बात श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार की ११ वीं गाथा में कही है, उसमें यह सब स्पष्ट होता है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्ध णयो।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

अहो! हजारों शास्त्रों के मूल इस एक गाथा में भरे हैं। आचार्यदेव ने इस गाथा में सारे शासन का मूल रहस्य भर दिया है।

यहाँ श्री तारणस्वामी कहते हैं कि अहो! अतुल-बलधारी इस आत्मा की जय हो... कि जिसके अनुभव की सहायता से आत्मा-कमल प्रफुल्लित होता है—केवलज्ञान खिल जाता है। जैसे प्रवचनसार, गाथा ९२ में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रमोद से जयकार किया है कि—'जयवन्त वर्तो स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म,' जयवन्त वर्तो, यह आत्मतत्व की उपलब्धि, और जयवन्त वर्तो, यह परम वीतराग चारित्ररूप शुद्धोपयोग कि जिसके प्रमाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ। वैसे ही यहाँ श्री तारणस्वामी ने प्रमोद से जयकार किया है कि—अतुल बलधारी आत्मा की जय हो कि जिसके अनुभव की सहायता से आत्मकमल प्रफुल्लित होता है।

शुद्धोपयोग हितकारी है और वही मोक्ष का साधक है। मोक्ष में जाते हुए सहकारी कौन? साथीदार कौन? कि शुद्धात्मा की वीतराग परिणति ही मोक्ष में जाने-वाले मुमुक्षु की सहकारी और साथीदार है। राग साथीदार नहीं, वह तो विरोधी है।

शुद्धभावधारी ज्ञानसूर्य के प्रकाश से ही आत्मकमल का विकास होता है। आत्मज्ञान की सहायता से ही हंस के समान निर्मल जिनपद प्रगट होता है। शुद्ध-ज्ञान ही जिनपद का साधन है, राग या बाह्यक्रिया साधन नहीं है।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान महा-हितकारी हैं, उनके द्वारा साम्यभाव

होकर कर्म खिर जाते हैं और कर्मशून्य निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। ज्ञान के अभ्यास से सिद्धपद प्रगटता है। राग का अभ्यास नहीं किन्तु ज्ञान का ही अभ्यास मोक्ष का साधन है। समयसार (कलश १४३) में भी कहते हैं कि **'कलयितुं यततां सततं जगत्'** अर्थात् यह ज्ञानस्वरूप पद, कर्म से अप्राप्य है और सहजज्ञान की कला से सुलभ है; इसलिए निजज्ञान की कला के बल से इस पद को अभ्यास करने का जगत सतत् प्रयत्न करे।

इस प्रकार उन्तीस गाथाओं के द्वारा श्री तारणस्वामी ने निश्चय -रत्नत्रय की एकतारूप शुद्धोपयोग का ममन किया है। शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है, यह भाव सम्यग्दृष्टि को प्रगटता है और उसके अभ्यास से भावों की उत्पत्ति होती जाती है, अनुक्रम से मुनिदशा प्रगट करके, क्षपकश्रेणी चढ़कर घातिया कर्मों का क्षय कर अरिहन्त हो जाता है और बाद में सर्व कर्मों का क्षय करके सिद्ध हो जाता है।

इसलिए मुमुक्षु जीवों को उचित है कि सर्व चिन्ताओं को छोड़कर एक शुद्धात्मा का ही अनुभव करें।

जो जीव पुण्य से, शुभराग से आत्म-प्राप्ति होने की बात मानता है, उसको पुण्य का लोभ है, और वही अनन्तानुबन्धी लोभ है। 'ज्ञानसमुच्चयसार' गाथा १२४ में कहते हैं —

लोभं पुण्यार्थं जेन, परिणामं तिष्ठते सदा।
अनंतान लोभ सद्भावं, त्यक्तते शुद्ध दृष्टितं॥१२४॥

जिसके अन्तर में सदैव पुण्य की प्राप्ति का लोभ-भाव रहता है, उसके अनन्तानुबन्धी लोभ प्रगट है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, शुद्धात्मा की दृष्टि से पुण्य के लोभ को भी छोड़ देते हैं। समकिती को

पुण्यभाव हो भले, किन्तु उसको रुचि नहीं, भावना नहीं; भावना तो शुद्ध आत्मा की ही है।

'ममलपाहुड़' में श्री तारणस्वामी ने ११ श्लोक की एक 'उमाहो फूलना' बनायी है, उसमें एक सम्यग्दृष्टि सिद्धगति पाने की और मोक्ष में जाने की भावना करता है और साथ में श्री अरिहन्त भगवान की भक्ति भी करता है, वह ऐसी भावना भाता है कि हे भगवान! जब तक मैं मोक्षपुरी में न पहुँचूँ, तब तक आप मेरे साथ ही साथ चलो। मोक्ष की ओर चलते-चलते साधक ने अपनी आत्मा में सिद्ध भगवान को स्थापित किया है, इससे सिद्ध भगवान उसके साथ ही साथ हैं। हे भगवान्! मोक्ष होने तक आप मेरे साथ ही रहो अर्थात् आपके उपदेश का अवलम्बन और आपके स्वरूप का चिन्तन बना रहे, जिससे बीच में भंग हुए बिना ही मैं अपनी उन्नति करता हुआ मोक्षपुरी में चला जाऊँ, बीच में कहीं भी पीछे न हटूँ। वह साधक सिद्धपुरी को ही अपना देश कहता है, सिद्धपर्याय को ही अपना भेष समझता है, सिद्धि-सुख को अपनी शय्या समझता है। इस प्रकार तारणस्वामी ने इस फूलना के द्वारा प्रेरणा की है कि रे जीव! तू निश्चित होकर सिद्ध जैसे तेरे शुद्धात्मा के अनुभव का अभ्यास कर, इसी स्वानुभवरूप जहाज पर चढ़कर तू मोक्षद्वीप में पहुँचेगा।

—फूलना—

चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी अपनेउ देसा,
उव उवनो हो विंद कमल रस मिलन सहेसा।
चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी अपनेउ भेषा,
तुम लखहुन हो इष्ट उवन पौ उवन उवएसा।

चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी मिलन सहेसा,
तं मिलिहो हो मिलन विली जिन नाथ उवएसा।
चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी अपनेऊ सेजां,
सिंहासन हो सूषम सहियो जै जै जिनेसा।
चलि चलहुं न हो जिनवर स्वामी अपनेऊ साथा,
सह कारह हो स्थान सुयं सुइ मिलन सहेसा।
तं तारन हो तरन सहावे तरन उवएसा,
तं दिप्ति हि दृष्टि शब्द पिउ मुक्ति सहेसा।

(—ममलपाहुड़ भाग - २ पृष्ठ १५५-१५६)

इसमें मोक्ष का साधक भव्यजीव, श्री अरहन्त भक्ति में मग्न होकर कहता है कि हे जिनेन्द्र! क्या आप हमारे साथ अपने मोक्षरूपी देश में न चलोगे? मुक्ति के मिलने के लिए मेरे हृदय में आत्मकमल के रस का अनुभव प्रगट हुआ है। मुझे श्री जिनेन्द्र भगवान का ऐसा उपदेश मिला है कि मैं चैतन्य सूर्य का अनुभव करूँ और वीतरागभाव को प्रगट करूँ। उस हितकारी सहायक भाव से यह जीव मुक्तिपुरी में प्रवेश करता है।

साधक कहता है, 'चलि, चलहु'...हे भगवान्! चलो... चलो! मैं सिद्धपद का साधन करके मोक्ष में आ रहा हूँ, तो हे भगवन्! अपने मोक्ष देश में आप भी क्या मेरे साथ नहीं चलोगे? 'चलि... चलहु, चलो आओ, चलो मेरे साथ चलो! हे भगवान! निज-स्वरूप के स्वदेश में आप मेरे साथ चलो।'

देखो तो सही, कितनी सुन्दर भावपूर्ण रचना की है।

जैसे प्रवचनसार के मंगलाचरण में आचार्यदेव ने, मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर के समान जो दीक्षा का उत्सव, उसमें सभी परमेष्ठी

भगवन्तों को बुलाकर अपने अन्तर में पधराये हैं, अपने ज्ञान में पञ्च परमेष्ठी को साक्षात् उपस्थित रखकर चारित्रदशा को साधते हैं, मोक्षदशा का स्वयंवर करते हैं। वैसे यहाँ श्री तारणस्वामी ने भी उसी शैली से फूलना की रचना की है। ओ भगवान! चलो... मेरे साथ में चलो, मोक्षपुरी की ओर जाते हुए, मेरे साथ ही आप रहो। अहो! जहाँ पञ्च-परमेष्ठी का साथ मिला, वहाँ मोक्षदशा में विघ्न नहीं हो सकता। प्रभो! चैतन्य का मोक्षदशा के साथ विवाह हो रहा है, उसके मण्डप में आपको बुलाया है। जैसे विवाह पर बड़े-बड़े लोगों को साथ में रखते हैं—इस हेतु से कि कहीं कन्या पक्ष की ओर से कोई गड़बड़ी न हो जाये, वैसे यहाँ साधक जीव चैतन्य के विवाह में श्रेष्ठ ऐसे अनन्त तीर्थङ्कर, सिद्ध भगवन्तों को अपने साथ में—पास में हृदय में रखकर मोक्ष के साधने को चला है, अब उसकी मोक्षदशा रुकनेवाली नहीं, वह पीछे हटनेवाला नहीं, अप्रतिहतभाव से मोक्षदशा लेकर के रहेगा।

हे भगवान! क्या आप मेरे साथ निजभेष में नहीं चलोगे? हमारा निजभेष तो सिद्ध महाराज के समान है (—'सिद्ध समान सदा पद मेरो') हे भगवान! आप मेरे साथ मिलकर मुक्तिपुरी में चलो। ....जब तक मोक्ष के पास न पहुँचू, तब तक मैं आपका साथ—आपकी भक्ति और आपके स्वरूप का ध्यान छोड़नेवाला नहीं। साधक कहता है—मेरी शय्या सिद्ध पर्याय है, उसी में आत्मा अनन्त काल तक परम आनन्दसहित विश्राम करता है, वहाँ पर आत्मा के शुद्ध अतीन्द्रिय सूक्ष्म प्रदेशों का सिंहासन है, विजय का आसन है, हे जिनेन्द्र भगवान! ऐसी सिद्ध शय्या में क्या आप मेरे साथ नहीं चलोगे? हे भगवान! मुक्तिपुरी में जाने को आप मेरे

सहकारी हो। प्रभो ! मैं सिद्ध भगवान के पास जा रहा हूँ, मेरे साथ आप भी सिद्धपुरी में चलिए। प्रभो! मोक्षपंथ में आप मेरे सार्थवाह हो... मोक्ष में जाने को आप मेरे साथीदार हो... आप मेरे साथ ही रहो, हमें आपका ही साथ है, अन्य किसी का नहीं, राग का भी साथ नहीं। समयसार में 'वंदित्तु सव्व सिद्धे' कहकर आत्मा में सिद्ध भगवन्तों को लाकर के साधकदशा का प्रारम्भ किया है, इस प्रकार अपूर्व माङ्गलिक किया है। उसी के अनुसार श्री तारणस्वामी ने भी यहाँ वैसी ही शैली अपनायी है।

वे सिद्ध भगवान 'तारण-तरण' स्वरूप हैं, जो उनका ध्यान करते हैं, वे भव-समुद्र से तिर जाते हैं, और वे स्वयं भी भव-समुद्र से तिर गये हैं, इसलिए वे 'तारण-तरण' हैं। और वे अपने शुद्ध स्वभाव के द्वारा जीवों को भवसागर से तिरने को सूचित कर रहे हैं, ऐसे शुद्धात्मा में दृष्टि करना यही भवसमुद्र से तिरने का जहाज है, उसके द्वारा भव्यजीव मुक्तिपुरी में प्रवेश करते हैं।

'ज्ञानसमुच्चयसार' गाथा ६२ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

लोकितं शुद्ध तत्वं च, शुद्ध ध्यान समागमं।
विश्वलोकं, ति अर्थं च, आत्मनं परमात्मनं॥६२॥

चौदह पूर्व में शुद्ध-तत्त्व दिखाया है, शुद्धध्यान की प्राप्ति का उपाय दिखाया है तथा सर्वलोक का स्वरूप, रत्नत्रय धर्म का स्वरूप और आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप दिखाया है। चौदह पूर्व में कौन-सी बात आयी ?—अर्थात् चौदह पूर्व का परमार्थ क्या है ? चौदह पूर्व में शुद्धात्मतत्व दिखाया है, शुद्धात्मा ही चौदह पूर्व का सार है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शुद्ध मोक्षमार्ग, और परमार्थ स्वरूप शुद्धात्मा, वही चौदह पूर्व का सार है। शास्त्र

में उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, शुद्धता-अशुद्धता इत्यादि सबका कथन है, किन्तु उन सबका सार तो यही है कि शुद्धात्मा के सन्मुख होकर उसका अनुभव करना। निश्चय-व्यवहार, उपादान -निमित्त आदि सबका स्पष्टीकरण इसमें समा जाता है। सत्समागम से ऐसा मार्ग सुनना, सो व्यवहार है।

चौदह पूर्व में 'अस्ति-नास्ति प्रवाद' नाम का एक पूर्व है। यहाँ अस्ति-नास्ति का कथन करते हुए गाथा ६३-६४ में कहते हैं कि—

अस्तित्वं अस्ति शुद्धं च, आत्मनः परमात्मनः।
परमात्मा परमं शुद्धं, अप्पा परमप्प समं बुधैः॥६३॥
नास्ति घाति कर्माणः नास्ति शल्यं च रागयं।
दोषं नास्ति मलं युक्तं, नास्ति कुज्ञान दर्शनं॥६४॥

आत्मा का और परमात्मा का शुद्ध स्वाभाविक अस्तित्व सदैव बना रहता है, परमात्मा का और इस आत्मा का-सबका शुद्ध अस्तित्वभाव एक-सा है। आत्मा का अस्तित्व निश्चय से परमात्मा के समान है—ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है। हे जीव! तू अन्तर में तेरे शुद्ध अस्तित्व पर दृष्टि कर, उसमें उपयोग को लगाकर ध्यान कर, यही चौदह पूर्वों का सार है।

ऐसे शुद्ध परमात्मा में और अपने आत्मा के शुद्धत्वभाव में घाति कर्मों की नास्ति है, तीन शल्यों की नास्ति है, राग-द्वेष की नास्ति है, सर्व मल का अभाव है तथा कुज्ञान-कुदर्शन की भी नास्ति है। साधक जीव ऐसे परमात्मस्वरूप से अपनी आत्मा को पहिचान करके उसकी भावना करता है।

'जिन सोही है आत्मा अन्य होई सो कर्म।
ये ही वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म'॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

भगवान अरिहन्त परमात्मा में १८ महादोष का अभाव है- क्षुधा, तृषा, जरा, मरण, जन्म, रोग, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, खेद, स्वेद, निद्रा, आश्चर्य, मद और अरति—ये १८ दोष अरहन्तदेव में नहीं होते, एवं उनको किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक मलिनता भी नहीं होती। मिथ्याज्ञान या मिथ्या उपदेश भी नहीं होता। ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा ही आप्त हैं।

इस आत्मा में भी सर्वज्ञ परमात्मा जैसी ही शक्ति है। परमात्मपना आत्मा की शक्ति के गर्भ में रहा है, उस शक्ति के बीज को चैतन्य की रुचि के द्वारा पुष्ट करने से, उसमें से केवलज्ञान का बड़ा फल पकता है। पहले ऐसे सर्वज्ञस्वभाव की पहचान और प्रतीति करना, यही सच्चा जीवन है।

'श्रावकाचार' गाथा२१६ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

सम्यक्त्वं यस्य न साधंते, असाध्यं व्रत संजमं।
ते नरा मिथ्या भावेन जीवंतोऽपि मृता इव॥२१६॥

जो जीव, सम्यग्दर्शन को नहीं साधता है, उसको व्रत, संयम भी असाध्य हैं। मिथ्याभाव के कारण वह जीता हुआ भी मृतक के ही समान है। अष्टप्राभृत में भी आचार्यदेव ने मिथ्यादृष्टि को 'चल सब' (चलता-फिरता शव) कहा है।

चैतन्य भावप्राण से जीना, यही आत्मा का जीवत्व है। ऐसे चैतन्यस्वभाव का जिसे भान नहीं है और राग को ही आत्मा का जीवन मानता है, वह चैतन्य के जीवन से रहित है, सम्यग्दर्शन को

वह नहीं साधता; इसलिए वह असाध्य है, मृतक है। जैसे मृतक कलेवर का जीवन किसी भी उपाय से साध्य नहीं हो सकता, वह असाध्य है और उसको जिलाने का सब ही उपचार निष्फल है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रहित जीव भी शुद्धात्मा के साध्य से रहित असाध्य है, जीवन रहित है; उसके व्रतादि सर्व उपचार निष्फल हैं, उसकी सर्व क्रियायें निष्फल हैं। सम्यग्दर्शनरूपी जीव ही जिसमें से निकल गया है, वहाँ पर व्रत, तप आदि तो खाली मृतक के समान हैं, चैतन्य का आनन्दमय जीवन उसमें नहीं है। सम्यक्त्व के बिना चाहे जितना चारित्र पालन करे तो भी वह सब बिना इकाई के शून्य की तरह निष्फल है।

सम्यक्त्व युत नरयम्मि सम्यक्त्व हीनो न च क्रिया।
सम्यक्त्वं मुक्ति मार्गस्य, हीनो सम्यक् निगोदयं॥२१८॥

(तारन-तरन श्रावकाचार)

कदाचित् नरक में हो तो भी, सम्यक्त्वसहित जीव प्रशंसनीय है, किन्तु सम्यक्त्वहीन जीव की कोई भी क्रिया यथार्थ नहीं होती। सम्यक्त्व की आराधना मुक्तिमार्ग है और सम्यक्त्व का विराधक जीव, निगोद में जाता है।

योगसार में भी कहा है कि—सम्यक्त्वसहित तो नरकवास भी भला है और मिथ्यात्वसहित स्वर्गवास भी भला नहीं। देखिये, यह सम्यक्त्व की महिमा! आचार्य समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि—

सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातंग देहजं।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौज सम्॥२८०॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

भले ही चाण्डाल देह में हो किन्तु जो सम्यग्दर्शन सहित है,

उसको भगवान ने देव-समान कहा है और वह भस्म से ढ़ँके हुए तेजस्वी अंगारे के समान है, देह के भीतर उसका चैतन्य-तेज झलक रहा है। और भी कहा है कि —

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो निर्मोही नैव मोहवान।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोही मोहिनो मुनेः ॥३३॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है। निर्मोही गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में स्थित है, किन्तु मोहवान मुनि, मोक्षमार्ग में नहीं है, वह तो संसार-मार्ग में ही है। प्रवचनसार में उसको संसारतत्त्व कहा है।

इन सब शास्त्रों की शैली के अनुसार श्री तारणस्वामी ने यह बात सादी शैली में लिखी है। राजा श्रेणिक ने पहले मिथ्यात्व अवस्था में मुनि की विराधना करके नरक का आयुष्य बाँधा, बाद में उसने सम्यग्दर्शन पाया और भगवान महावीर के समवसरण में उसको क्षायिक सम्यक्त्व हुआ, आयुष्यबन्ध के कारण वह नरक में गया, किन्तु सम्यग्दर्शन सहित। इसी सम्यक्त्व के प्रताप से वह इस भरतक्षेत्र का प्रथम तीर्थङ्कर होगा, इन्द्र आकर उनके चरणों का पूजन करेंगे। इस प्रकार जो सम्यक्त्व सहित है, वह प्रशन्सनीय है। सम्यक्त्व के बिना कोई भी क्रिया प्रशंसनीय नहीं, सच्ची नहीं।

सम्यक्त्व की आराधना यह मुक्ति का मार्ग है।
सम्यक्त्व की विराधना यह निगोद का मार्ग है॥

गाथा २१९ में कहते हैं कि —

सम्यक्त्वयुत पात्रस्य ते उत्तम सदा बुधेः।
हीनो सम्यक् कुलीनस्य अकुली अपात्र उच्यते॥२१९॥

जो पात्र सम्यग्दर्शन सहित है, उसको बुधजनों ने सदा उत्तम

पात्र कहा है, और उत्तम कुलवाला होने पर भी जो सम्यक्त्वहीन है, उसे अकुलीन और अपात्र कहा है। अरे! पशु-पक्षी भी, जिनके पास सम्यक्त्व-रत्न है, वे श्रेष्ठ हैं, उत्तम हैं, माननीय हैं, वे मोक्षमार्गी हैं; और बड़े-बड़े राजा-महाराजा या देव भी यदि सम्यक्त्व रहित हों तो वे अपात्र हैं, हीन हैं।

यह बात सुनकर, अन्तर में सम्यग्दर्शन की अचिन्त्य महिमा जगाकर उसका प्रयत्न करना चाहिए।

गाथा २२० में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—जो जीव सम्यग्दर्शनसहित है, वही तीर्थङ्करनामकर्म को बाँधकर तीर्थङ्कर जन्म लेता है। वह जन्म आत्मा की शुद्धि के लिए होता है। वहाँ तीन प्रकार के कर्मों का क्षय कर डालता है। उसको यथार्थ / निश्चल मोक्ष का मार्ग विद्यमान है।

तीर्थङ्कर नामकर्म, सम्यक्त्वसहित जीव को ही बँधता है, वह जीव आत्मशुद्धि में आगे बढ़कर केवलज्ञान प्रगट करता है और दिव्यध्वनि के द्वारा अनेक जीवों को मोक्षमार्ग प्राप्ति का निमित्त होता है। इसके पश्चात् भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म—ऐसे त्रिविध कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके सिद्धपद को पाता है; इस प्रकार परमोपकारी निश्चय सम्यग्दर्शन साथ ही साथ रहकर जीव को सिद्धपद तक पहुँचाता है। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा जानकर मुमुक्षु को ऐसे सम्यग्दर्शन की उपासना निरन्तर प्रयत्नपूर्वक करना कर्तव्य है।

गाथा २२१ में कहते हैं कि—

सम्यक्त्वं यस्य चित्तंति वारंवारेन सार्थयं।
दोषं तस्य न पश्यंते, सिंध मातंगजूथयं॥

जो जीव अपने अपने चित्त में बार-बार सम्यग्दर्शन के स्वरूप का चिन्तन करता है, उसके पास कोई दोष आ नहीं सकते, उसके दोष दूर हो जाते हैं, जैसे प्रतापवन्त सिंह की गर्जना सुनते हाथियों के झुण्ड भाग जाते हैं, वैसे सम्यक्त्व के महान् प्रताप के समक्ष रागादि सब दोष दूर भाग जाते हैं। 'परमात्मपुराण' में सम्यग्दर्शन को फौजदार की उपमा दी है, जैसे फौजदार, चोर को भीतर में नहीं आने देता और नगर की रक्षा करता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शनरूपी फौजदार किसी भी दोष का निजस्वरूप के भीतर प्रवेश नहीं होने देता, सर्व-दोषों से वह अपने स्वरूप की रक्षा करता है। ऐसे सम्यक्त्व की आराधना, वही प्रथम आराधना है। प्रथम दृढ़रूप से अन्तर में सम्यक्त्व का सतत् पुरुषार्थ करना चाहिए।

'ज्ञानसमुच्चयसार' गाथा ६५ में कहते हैं कि—

प्रज्ञा अपूर्व शुद्धं च परमज्ञान समागमं।
परमात्मा परमं शुद्धं ध्यान समं बुधैः॥६५॥

प्रज्ञा अर्थात् भेदविज्ञान, वह अपूर्व शुद्धभाव है, उसके द्वारा परमज्ञान की अर्थात् उत्कृष्ट केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। शुद्ध-प्रज्ञा द्वारा शुद्ध परमात्मा के ध्यान से परमात्मपद प्राप्त होता है। बड़ी भक्ति के साथ ऐसे शुद्धात्मा की आराधना करना, यही द्वादशांगरूप जिनवाणी की विनय है, और वही सच्चा स्वाध्याय है।

स्वकीय शुद्धात्मा का अध्ययन-चिन्तन, सो स्वाध्याय है। गाथा ५३९ में स्वाध्याय-तप का वर्णन करके हुये कहते हैं कि—

सुद्धं सुद्ध सरूवं सुद्धं झायंति सुद्ध मप्पानं।
मिच्छा कुज्ञान विरयं, सुद्ध सहावं च सुद्ध झानत्थं॥५३९॥

स्वाध्याय-तप का धारक शुद्धतत्त्वस्वरूप को ध्याता है, जो

मिथ्यात्वादि से विरक्त होकर, परमशुद्ध आत्मा को ध्याकर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करता है, उसे परमार्थ स्वाध्याय-तप है। स्व का अध्ययन, सो स्वाध्याय। इस स्वाध्याय का सच्चा मन्दिर चैतन्यधाम है। चैतन्यधाम में प्रवेश न करे और अकेले बाहर के शास्त्र पढ़ा करे तो उसकी स्वाध्याय का सच्चा लाभ नहीं होता। स्व के ध्यानरूप अध्ययन, सो स्वाध्याय है। 'स्व का' कहने से शुद्ध आत्मा का, क्योंकि निश्चय से शुद्ध आत्मा ही 'स्व' है। चैतन्य-मन्दिर आत्मा, उसमें प्रवेश करके शुद्धात्मा का अध्ययन करना, यही स्वाध्याय-मन्दिर में सच्चा प्रवेश है। धर्मात्मा अन्तर्दृष्टि के द्वारा चैतन्य-मन्दिर में प्रवेश करके स्वाध्याय करता है।

स्वाध्याय की तरह कायोत्सर्ग, ध्यान, विनय इत्यादि का भी शुद्धस्वरूप अध्यात्मदृष्टि से दिखाया है। काया से भिन्न उत्कृष्ट सिद्ध समान शुद्धात्मा में लीनता, उसी का नाम कायोत्सर्ग है। इसी प्रकार के सम्यक्त्व के वर्णन में कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव में रहना, सो स्वयं 'संक्षेप' है। ज्ञानस्वभाव में रहना, यही मोक्ष का सीधा सरल उपाय है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा शुद्धस्वरूप है, उसके प्रताप से अनन्त संसार टूट जाता है और परभाव टूट जाता है, यही 'संक्षेप सम्यक्त्व' है, इस सम्यक्त्व के प्रताप से संसार संक्षिप्त हो जाता है।

'श्रावकाचार' पृष्ठ ३१२-३१३ में शुद्ध षट्कर्म का स्वरूप दिखाया है—

षटकर्म शुद्ध उक्तं च शुद्ध समय सुद्धं ध्रुवं।
जिनोक्तं षट कर्मस्य केवलीदृष्ट जिनागमे॥३२०॥

शुद्ध षट्कर्म का अभिप्राय यह है कि रागादिभावों से रहित और ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित निश्चय शुद्धात्मा का जिसमें लाभ

हो, वही शुद्ध षट्कर्म है। केवली भगवान के कहे हुए जिनागम में ऐसे शुद्धभावरूप षट्कर्म को मोक्ष का कारण कहा है। देव-पूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय-संयम-तप और दान ये श्रावक के नित्य के षट्कर्म हैं, उसमें धर्मी को जितना शुद्धभाव है, उतना ही शुद्ध षट्कर्म है, और जितना राग है, उतनी अशुद्धता है।

विशेषार्थ में कहते हैं कि 'शुद्ध षट्कर्म वे ही हैं जहाँ आत्मा की शुद्धता का अभिप्राय हो। देवपूजादि प्रत्येक कार्य को करते हुए भावना परिणामों की शुद्धि की हो, शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो।' बीच में राग हो, उसे धर्मी जीव अपना कर्तव्य या धर्म नहीं मानता। ऐसे ज्ञानपूर्वक, जिनागम में कहे हुये षट्कर्म प्रत्येक श्रद्धावान श्रावक को पालना चाहिए। पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका में श्री पद्मनन्दी मुनि ने श्रावकों को षट्कर्म दिखाये हैं।

श्री तारणस्वामी भी गाथा ३२१-३२२ में कहते हैं कि —

देवं देवाधिदेवं च गुरु ग्रन्थ मुक्तं सदा।
स्वाध्याय शुद्ध ध्यायंते, संयमं संयमं श्रुतं॥३२१॥

तपश्च अप्प सद्भावं, दानं पात्रं च चिंतनं।
षटकर्म जिन प्रोक्तं सार्धं शुद्ध दृष्टितं॥३२२॥

'इन्द्रादि देवों करके पूज्यनीय वीतराग भगवान को देव मान के पूजे; सदा ही परिग्रहरहित ही गुरु माने; शुद्ध आत्मा का मननरूपी स्वाध्याय को ध्यावे; शास्त्र में कहे प्रमाण मन और इन्द्रिय-निरोध करके प्रतिज्ञा ले, सो संयम है; आत्मा के स्वभाव में तपना, सो ही तप है; पात्रों को दान देने का चिन्तन करना दान है, यह जिनेन्द्रकथित छह कर्म हैं। इन सबके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शन का होना उचित है।'

जहाँ शुद्धात्मा के ऊपर दृष्टि हो, आत्मा के अनुभव का प्रेम हो, सम्यग्दर्शन की शुद्धि हो, वहाँ ही यथार्थ षट्कर्म होते हैं। श्रावक के धर्म में भी सम्यग्दर्शन मूलभूत है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक का भी कोई धर्म नहीं होता।

जैसे 'बोधप्राभृत' में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निश्चय-व्यवहार दोनों को लक्ष्य में रखकर जिनप्रतिमा, जिनचैत्य आदि ग्यारह बातें अध्यात्मशैली से दिखायी हैं, वहाँ भावलिंगी मुनि को ही जिन-प्रतिमा और जिनचैत्य कहा है, ऐसे ख्यालपूर्वक बाहर में स्थापना-निक्षेप का व्यवहार भी होता है। व्यवहार है सही, परन्तु अन्दर में परमार्थ के भावसहित हो, तब ही उस व्यवहार को यथार्थ व्यवहार कहा जाता है। अन्दर के भान के बिना अकेले बाहर के व्यवहार में ही लगा रहे तो सम्यग्दर्शनादि का लाभ नहीं होता। लोग अकेले बाहर में ही न लगे रहें और अन्तरस्वभाव में दृष्टि करें—इसी हेतु से तारणस्वामी ने अध्यात्मशैली से सब कथन किया है।

प्रत्याख्यान का वर्णन करते हुए गाथा ६६ में कहते हैं कि—

प्रत्याख्यानं च पूर्वं च, परोक्षं प्रत्यक्षं ध्रुवं।
परत्यक्तं अमलं शुद्धं कर्मं क्षिपति बुधजनैः ॥६६॥

(ज्ञानचमुच्चयसार)

चौदह पूर्वों में एक प्रत्याख्यान नाम का पूर्व है, उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष (अर्थात् निश्चय और व्यवहार) प्रत्याख्यान का वर्णन है। अन्तर में पर के त्यागस्वरूप जो अपना अमल शुद्धस्वभाव, उसमें एकाग्र होने से समस्त परभावों का छूट जाना, यह निश्चय प्रत्याख्यान है और बाहर में आहारादि के त्याग की शुभवृत्ति का होना, यह पुण्यबन्ध के कारणरूप व्यवहार-प्रत्याख्यान है।

समयसार की ३४ वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि — अन्तरस्वरूप में एकाग्र होनेवाला ज्ञान स्वयं ही प्रत्याख्यानस्वरूप है, क्योंकि उस ज्ञान में समस्त परभावों का त्याग है। जब ज्ञान में ही ज्ञान की स्थिरता हुई, तब परभावों से छूट करके ज्ञान स्वयं अपने शुद्धस्वरूप में परिणत हुआ, वह ज्ञान स्वयं ही परभावों के प्रत्याख्यानस्वरूप है। इस निश्चय-प्रत्याख्यान का फल मोक्ष है और आहारादि के त्याग की वृत्तिरूप जो व्यवहार-प्रत्याख्यान, उसका फल मोक्ष नहीं, उसका फल तो पुण्य-बन्धन है।

स्वकीय शुद्धस्वभाव क्या और पर क्या, इसके परिज्ञानपूर्वक ही प्रत्याख्यान होता है। ज्ञान के बिना सब वृथा है। ज्ञान ही आत्मा का चक्षु है, जिसका ज्ञान-चक्षु नहीं खुला, वह अन्धा जीव मोक्षमार्ग में कैसे चलेगा ?

गाथा ९२ तथा ९४ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

ज्ञानं च दर्शनं शुद्धं, ज्ञानं चरण संजुतं।
ज्ञान सह तपं शुद्धं, ज्ञान केवल लोचनं॥९२॥

अनेक श्रुत जानाति, व्रत तप क्रिया अनेकधा।
अनेक कष्ट कर्तानि, ज्ञानहीनो वृथा भवेत्॥९४॥

आत्मज्ञान ही आत्मा की सच्ची आँख है और वही जैनसिद्धान्त का सार है। ज्ञान के बिना सब वृथा है। सम्यग्ज्ञानरहित कोई भी आचरण मोक्ष का साधक नहीं हो सकता। आत्मा को देखनेवाला जो सम्यग्ज्ञान, वही आत्मा की सच्ची आँख है। वह आँख जिसके नहीं, वह अन्ध है, भले ही बाहर में चर्म-चक्षु उसके विद्यमान हों, किन्तु वह चक्षु भीतर में मोक्ष का मार्ग देखने के लिए तो काम में

नहीं आते। चैतन्य को जो नहीं देखता, वह चाहे ग्यारह अङ्ग का पढ़नेवाला हो तो भी अन्ध है। साधुओं को आगमचक्षुवाला कहा है, क्योंकि वे भावश्रुतरूप आगमचक्षु के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानते हैं। शुद्धात्मा को देखनेवाला जो ज्ञानचक्षु है, वही मोक्ष का साधक है। सम्यग्दर्शन के द्वारा ही ऐसा ज्ञानचक्षु खुलता है; इसलिए सन्तों ने सम्यग्दर्शन का प्रधान उपदेश किया है।

[7]

सातवाँ प्रवचन

जिनशासन में चौदह पूर्व का सार

शुद्धात्म-अनुभूति

[वीर सं० २४८८-आश्विन शुक्ल ४]

इस 'ज्ञानसमुच्चयसार' ग्रन्थ में शुद्ध सम्यग्दर्शन का स्वरूप व उसकी महिमा चलती है। चौदह पूर्व का सार शुद्धात्मा है, यह बात श्री तारणस्वामी ने अध्यात्मशैली से समझायी है। सम्यग्दर्शन के साथ में जो शुद्धात्मा का ज्ञान है, उसमें १४ पूर्व का सार समा जाता है। यहाँ ६७ वीं गाथा में कहते हैं कि —

नंतानंत स्वयं दृष्टं धरयंति धर्मं ध्रुवं।
धर्मं शुक्लं च ध्यानं च शुद्ध तत्त्वं साध्यं बुधैः ॥६७॥

साधक धर्मात्मा अनन्तानन्त गुणों के धारक अपने शुद्धतत्त्व को अन्तर्दृष्टि से स्वयं देखता है और धर्म-शुक्लध्यान के द्वारा उसको साधता है। वह आत्मा अपने ध्रुव धर्म को धारण करनेवाला है।

देखो! शुद्धतत्त्व साध्यभूत है—ऐसा अङ्ग पूर्वरूप जिनवाणी में कहा है। भेदज्ञानी जीव शुद्ध आत्मतत्त्व का साधन करता है। भावश्रुतज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव करना, उसमें जिनशासन के बारह अङ्ग का सार आ जाता है। समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में भी आचार्यदेव ने यह बात दिखायी है कि जो जीव शुद्ध आत्मा को

देखता है, वह सकल जिनशासन को देखता है। शुद्धात्मा की अनुभूति ही जिनशासन है।

इसमें यह बात भी आ गयी कि निश्चय और व्यवहार दोनों समान नहीं है। स्वभाव का साधन शुद्धनय से (निश्चयनय से) होता है। यहाँ 'जिसने व्यवहार को जाना, उसने जिनशासन को जान लिया'-ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'शुद्धनय से जिसने शुद्धात्मा को जाना, उसने जिनशासन को जान लिया'-ऐसा कहा। इसमें शुद्धनय की ही मुख्यता आयी। भगवान ने चौदह पूर्व में राग के या व्यवहार के आश्रय से धर्म का साधन नहीं कहा। ज्ञान को ज्ञान में जोड़ना, वही धर्म का साधन है और वही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की रीति है। इससे आचार्य अमृतचन्द्रसूरि समयसार कलश १०५ में कहते हैं कि आगम में ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही अनुभूति करने का विधान है।

यदे तद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं।
शिवस्यायं हेतुः स्वयंमपि यतस्तच्छिव इति॥
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयंमपि यतो बंध इति तत्।
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम्॥१०५॥

जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि वह स्वयंमेव मोक्षस्वरूप है, उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है, वह बन्ध का हेतु है, क्योंकि वह स्वयंमेव बन्धस्वरूप है। इसलिए आगम में ज्ञानस्वरूप होने का अर्थात् अनुभूति करने का ही विधान है। देखो! यह आगम की आज्ञा!

साधक को बीच में शुभराग आता है किन्तु वह बन्धस्वरूप है;

मोक्ष के साधन के रूप में उसका विधान नहीं है। भगवान ने मोक्ष के साधन के रूप में तो आगम में शुद्धात्मा की अनुभूति की ही आज्ञा दी है। अनन्त गुणों का धारक अपना आत्मा स्वयं अनुभव में आवे, उसी को साधकपना कहा है, इसके बिना साधकपना नहीं हो सकता। शुभरागरूप चिन्तन को व्यवहार से धर्मध्यान कहा, परन्तु वास्तव में वह न तो धर्मध्यान है और न धर्मसाधन है। व्यवहार से भी उसको धर्मध्यान तब ही कहने में आता है, जबकि वह निश्चय के लक्षसहित हो। यदि राग को ही धर्म का साधन मानें, तब तो उसको व्यवहार भी नहीं कहते, उसकी तो श्रद्धा ही मिथ्या है। आप ही अन्तर्मुख होकर (स्वानुभूत्या) अपने आत्मा को देखे-अनुभवे, उसे चौदह पूर्व में साधक कहा है। ऐसे साधकपने में राग का आधार नहीं है। जो स्वयं अपनी आत्मा को अन्तर्मुख होकर नहीं देखता, उसका साधकपना कैसा ?

प्रस्तुतं न हि पिच्छदि, अप्रस्तुतं परम सुद्धमप्पानं।
मिथ्यामयं न दिष्टदि सुद्ध सहावेन सरूव पिच्छंतो ॥५२८॥

(—'**ज्ञानसमुच्चयसार**'।)

प्रायश्चित्त अर्थात दोष का अभाव और ज्ञान की शुद्धि किसको होती है—यह बात कहते हैं:—जो प्रस्तुत अर्थात् बाहर में प्राप्त ऐसे शरीर, कर्म आदि प्रगट पदार्थ को नहीं देखता और न उसे अपना मानता है—न उसकी तरफ झुकाव करता है और अप्रस्तुत अर्थात् बाहर में अव्यक्त-अप्रगट-गुप्त ऐसे अपने परमशुद्ध आत्मा को अन्तर्दृष्टि से जो देखता है, उसकी ओर झुककर जो उसका ध्यान लगाता है—इस प्रकार शुद्धस्वरूप को देखनेवाले उस जीव को मिथ्यात्वादि दोषों के अभाव से प्रायश्चित होता है।

व्यवहार तो अनादि से चला आ रहा है। इसलिए वह प्रस्तुत है, प्रगट दिखता है, परन्तु भीतर का परमार्थ स्वभाव अज्ञानी को अनादि से अप्रस्तुत है। ज्ञानी तो प्रगटरूप ऐसे बाह्य विषयों को छोड़कर अप्रगटरूप ऐसे सूक्ष्म चैतन्य को अन्तर्दृष्टि से ध्यान में प्रगट करता है। उसमें चैतन्य की शुद्धता प्रगट होती है और दोष का परिहार होता है—उसी का नाम प्रायश्चित है।

और गाथा ५२९ में श्री तारणस्वामी 'रूपस्थ ध्यान' दिखाते हुये कहते हैं कि —

रागादि दोष रहियं, धम्म झानं झायंति तं मुनिना।
कुज्ञान सल्य रहियं, रूवत्थं सरूव झानत्थं॥५२९॥

(—'**ज्ञानसमुच्चयसार**'।)

मुनिराज, सर्व रागादि दोषरहित, ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्थिर होकर जो निजरूप को ध्याते हैं, उसी का नाम रूपस्थ ध्यान है। स्वरूप में स्थिर होकर उसे निर्विकल्परूप से जो ध्याता है, उसे ही रूपस्थ ध्यान है।

अब 'विद्यानुवादपूर्व' की बात करते हैं। विद्यानुवादपूर्व का सार क्या है ?—कौनसी विद्या उसमें दिखायी है ? यह कहते हैं—

वेदते वेद वेदांगं, वेदते भुवनत्रयं।
अर्थं रत्नत्रयं शुद्धं विद्यमान लोकं ध्रुवं॥६८॥

(—'**ज्ञानसमुच्चयसार**'।)

आत्मज्ञानरूपी विद्या को जानना, यही विद्यानुवादपूर्व का सार है। आत्मज्ञानरूपी विद्या से वेद-वेदांग (अर्थात् १२ अंग और चौदह पूर्व एवं दूसरे प्रकीर्णकादि) जाना जात है, यह विद्या

तीन भुवन को जानती है। विद्यमान ध्रुव तत्व को वह जानती है। शुद्ध रत्नत्रय उसका प्रयोजन है।

वही सच्ची अध्यात्मविद्या है, जो कि ध्रुव विद्यमान चैतन्यतत्व को जाने, वही आत्मिक विद्या है। ऐसी आत्मिक विद्या के बिना बाहर का जानपना या शास्त्र का जानपना, वह कोई सम्यक् विद्या नहीं है, क्योंकि '**सा विद्या या विमुक्तये**' सच्ची विद्या वह है जो मुक्ति का कारण हो। शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप विद्या (अथवा अन्तर्मुख भावश्रुतज्ञानरूप विद्या), वह मोक्ष का कारण है। चैतन्यस्वभाव की विद्यमानता में से जो विद्या निकली, उसमें सर्व अङ्ग-पूर्व का सार आ गया और वही सच्चा विद्यानुवादपूर्व का ज्ञान है। यह विद्या तीन लोक के स्वरूप को जानकर रत्नत्रयरूप प्रयोजन को साधती है। 'सब आगम भेद सु उर वसे'; जिसको ऐसी विद्या प्रगटी, उनके अन्तर में सब शास्त्रों का रहस्य समा गया है। भगवान के कहे हुए विद्यानुवादपूर्व का रहस्य यह है कि भावश्रुत को अन्तर्मुख करके आत्मा को आत्मा से ही जानना। आत्मा को देखनेवाला भावश्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान, वह सम्यक् विद्या है और यह विद्या, मोक्ष का कारण है। ऐसी विद्या के बिना नर, पशु समान है।

ज्ञानी महात्मा क्या करता है? यह बात ६९वीं गाथा में कहते हैं—

अनो कर्म ममलं शुद्धं वारं वारं च सार्थयं।
शुद्ध तत्व दर्शनं नित्यं, आत्मनं परमात्मनं॥६९॥

शरीरादि नोकर्मरहित निर्मल शुद्ध परमात्मतत्व को अथवा परमात्मा के जैसे अपने शुद्ध आत्मतत्व को, तत्वज्ञानी महात्मा बार-बार देखता है—ध्याता है। ऐसे शुद्धात्मा के दर्शन करने में परमार्थ देवदर्शन और गुरु-उपासना भी समा जाती है।

चौदह पूर्व में एक 'कल्याणप्रवाद' नामक पूर्व है, उसका संकेत करके कहते हैं कि—कल्याणप्रवाद पूर्व में आत्मा का कल्याण हो, ऐसी बात कही है—

कल्यानं कल्पयं शुद्धं पूर्व कल्पंति शाश्वतं।
ज्ञानमयं च तत्वार्थं, कल्यानं ध्यान संजुत्तं॥७०॥

(—'**ज्ञानसमुच्चयसार**'।)

देखो, कल्याणप्रवादपूर्व में क्या कहा?—शुद्ध अविनाशी ज्ञानमय निश्चय तत्त्व, जो कि कल्याणकारक है, वह कल्याण-प्रवादपूर्व में दिखाया है, उसके ध्यान से अविनाशी कल्याण होता है।

कल्याणप्रवाद पूर्व में तीर्थङ्कर भगवन्तों के गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान और मोक्ष, इन पञ्च कल्याणकों का वर्णन है। उनका यहाँ निश्चय की विवक्षा से कथन करते हैं कि, कल्याणपूर्व आत्मा के कल्याण-मार्ग दिखाता है। चैतन्यशक्ति के गर्भ में परमात्मपन भरा है, उसको जहाँ प्रतीत में लिया, वहाँ परमात्मा गर्भ में आया, यही परमार्थ गर्भकल्याणक हुआ। पीछे उसमें लीन होकर जहाँ केवलज्ञानादि चतुष्टय प्रगटे, वहाँ साक्षात् परमात्मा प्रगटे, यह हुआ परमात्मा का अवतार। आत्मा की शक्ति के गर्भ में से परमात्मपन का जन्म हुआ, यही परमार्थ जन्मकल्याणक है।

शुद्ध चैतन्य के ज्ञान-ध्यान से कल्याण हो—ऐसी बात कल्याणपूर्व में दिखायी है, किन्तु कल्याणपूर्व में भगवान ने ऐसा तो नहीं कहा कि राग से कल्याण होगा। व्यवहार तो पराश्रित बहिर्भाव है, उसमें जीव का कल्याण नहीं। निश्चय का विषय जो शुद्ध अन्तरतत्त्व, उसके भीतर घुसकर अनुभव करने से कल्याण

होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यही कल्याण है; इसके अतिरिक्त पर की तरफ का राग-भले ही वह राग, परमात्मा के प्रति का हो, उसमें जीव का कल्याण नहीं है और न वह राग, कल्याण का साधन भी है।

'ममलपाहुड़' में ७४ वाँ प्रकरण 'कल्याणक फूलना' है, उसमें अध्यात्मिक दृष्टि से पञ्च कल्याणक बताये हैं, यथा—

जब जिनु गर्भवास अवतरियो, ऊर्ध ध्यान मनु लायो।
दर्सन न्यान चरन तब यरियो, उव उवन सिधि चितु लायो॥

यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि श्रद्धावान भव्यजीव के मनरूपी गर्भ में श्री जिनेन्द्र भगवान का वास है। वह भव्यजीव रत्नकुक्षि माता की तरह कहता है कि—मैंने सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को धारण किया है, मेरे उदर में शुद्धात्मा की प्रतीति प्रगटी है, इस सम्यग्दर्शन के प्रताप से आत्मा में मोक्ष के बीज लग गये हैं। अब मुझे आत्मिकमार्ग अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग मिल गया है। मेरी शक्ति के गर्भ में परमात्मा विराज रहे हैं। अब मुझे तरण-तारणस्वामी अरिहन्त परमात्मा मिल गया, वह स्वयं संसार से तिर गये हैं और तिरने का मार्ग दिखाकर के दूसरे जीवों के भी तारणहार हैं।

जन्मकल्याणक की ओर संकेत करके कहते हैं कि जैसे तीर्थङ्कर के जन्म से जगत में प्रकाश फैलता है, वैसे शुद्ध परमात्मा के अवतार से मेरे हृदय में सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश प्रगटा है। मेरी आत्मा में धर्म का अवतार हुआ, वह महाकल्याणकारी है। रे भैया! मुझे परम सहकारी जिनेन्द्र भगवान सहज में मिल गये हैं। आत्मा में शुद्धात्म-परिणति का प्रगट होना, यही निश्चय से जन्मकल्याणक है। ऐसा जन्मकल्याणक होने पर, आत्मा के अनुभव में आनन्दजल

के कलश भर-भर के आत्मा का अभिषेक होता है। पाँचों कल्याणक का इसी शैली से वर्णन किया है।

७९ वें प्रकरण में कलश-अभिषेक सम्बन्धी पद हैं, उनमें श्री तारणस्वामी कहते हैं कि स्वानुभवरूपी कलश हैं, यह कलश भर-भर के १००८ कलशों से २४ तीर्थङ्कर भगवन्तों का अभिषेक होने पर चतुष्टय उत्पन्न होता है। आत्मारूपी 'इन्द्र' इष्ट परमात्मारूप तीर्थङ्कर का, स्वानुभवरूप कलश से, आनन्दरूपी जल भर-भर के अभिषेक करता है। जैसे इन्द्र, तीर्थङ्कर परमात्मा का रूप देख-देखकर आश्चर्य पाते हैं और उन्हें तृप्ति नहीं होती, वैसे अन्तर में इन्द्र स्थानीय आत्मा अपना परम स्वभावरूप तीर्थङ्कर परमात्मा का रूप देख-देखकर आनन्दाश्चर्य पाता है और उसका बार-बार अनुभव करने पर भी तृप्ति नहीं होती। शुद्धात्मा का आचरण, यह तो ऐरावत हाथी है, उस आचरणरूप हाथी के ऊपर तीर्थङ्कर परमात्मा को आरूढ़ करके, साधक जीव आनन्दजल से पूरित स्वानुभवरूप कलश से अभिषेक करता है, शुद्ध-परिणति पाण्डुक-शिला है। ऐसा कलशाभिषेक करने से अर्थात् बार-बार आत्मा के अनुभव का अभ्यास करने से जीव स्वचतुष्टय से सुशोभित ऐसे परमात्मपद को पाता है।

जैसे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अष्टप्राभृत में '**दंसणमूलो धम्मो**' कहकर धर्म का मूल सम्यग्दर्शन बताया है और उसकी अलौकिक महिमा प्रकाशित की है; वैसे यहाँ 'श्रावकाचार' में श्री तारणस्वामी भी कहते हैं कि जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष नहीं होता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना एक भी धर्म-क्रिया नहीं होती, सम्यक्त्वरहित सर्व क्रियायें निष्फल हैं —

यस्य सम्यक्त्व हीनस्य उग्रं तप व्रत संजमं।
सर्वा क्रिया अकार्या च मूल बिना वृक्षं यथा ॥२०८॥

(—श्रावकाचार)

सम्यक्त्वहीन जीव को उग्र तप-व्रत-संयम आदि सभी क्रियायें अकार्य हैं—व्यर्थ हैं, उनमें मोक्षमार्ग नहीं है। जैसे मूल के बिना वृक्ष नहीं होता; वैसे सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। गाथा २०९ में कहते हैं—

संमिक्तं जस्य मूलस्य, साहा व्रत डाल नंत नंताई।
अवरेवि गुणा होंति, संमिक्तं हृदयं यस्य ॥२०९॥

(—श्रावकाचार)

जिसके अन्तर में सम्यग्दर्शनरूपी मूल विद्यमान है, उसको दूसरे अनेक गुणरूपी शाखायें होती हैं; जहाँ सम्यग्दर्शन हो, वहाँ परिणामों की अनन्तगुणी विशुद्धता बढ़ती जाती है, वीतरागता के बढ़ने से व्रत-चारित्र आदि शाखायें निकलती हैं और केवलज्ञानरूपी महान फल पकता है।

सम्यक्त्वं बिना जीवो जानै श्रुत्संग बहु भेदं
अन्ये यं व्रत चरणं मिथ्यात्व वाटिका जालं ॥२१०॥

(—श्रावकाचार)

सम्यक्त्व के बिना जीव अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान के भंग-भेद जाने, ११ अंग ९ पूर्व तक पढ़ें और अनेक प्रकार के व्रताचरण करें तो भी ये सब मिथ्यात्वरूपी बाग के जाल के समान हैं। सम्यग्दर्शन से रहित सब व्यवहार-ज्ञान और सब व्यवहार-चारित्र मिथ्या ही है, उस व्यवहार के बगीचे में कोई मोक्षरूपी फल पकनेवाला नहीं। वह ज्ञान-चारित्र का बाग, मिथ्यात्वरूपी अग्नि से भस्मीभूत हो जाएगा। मोक्षरूपी फल तो सम्यक्त्व के बगीचे में ही लगता है।

गाथा २११ में कहते हैं कि—

सुद्ध संमिक्त उक्तं च, रत्नत्रयं च संजुतं।
सुद्ध तत्वं च सार्द्धं च, संमिक्ति मुक्ति गामिनो ॥२११॥

(—श्रावकाचार)

जिसको शुद्ध सम्यग्दर्शन है, वही जीव रत्नत्रय से युक्त होता है, उसी को शुद्धात्म-प्राप्ति होती है और वही मुक्तिगामी होता है।

सम्यक्त्व की ऐसी महिमा जानकर जीव को दृढ़रूप से उसका उद्यम करना चाहिए।

गाथा २५० में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि शुद्धात्मा का प्रकाशक ज्ञान ही स्वयं तीर्थस्वरूप है; इसलिए जिसने शुद्धात्मा का अनुभव किया, उसने परमार्थ तीर्थयात्रा की, वह मोक्ष का कारण है और सम्मेदशिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा, वह व्यवहार तीर्थयात्रा है, वह पुण्य-बन्ध का कारण है।

ज्ञानं तत्वानि वेदंते शुद्ध समय प्रकाशकं।
शुद्धात्मानं तीर्थ शुद्ध ज्ञानं ज्ञान प्रयोजनं ॥२५०॥

(—श्रावकाचार)

ज्ञान वह है जो तत्वों को यथार्थ जानकर शुद्ध आत्मा को प्रकाशित करे, शुद्ध आत्मा ही संसार से तारनेवाला शुद्ध तीर्थ है, तिरने का भाव जिसमें प्रगटे, उसी का नाम तीर्थ; शुद्ध आत्मा को झलकानेवाला ज्ञान ही तीर्थ है। उस ज्ञान का प्रयोजन ज्ञान ही है, राग, ज्ञान का प्रयोजन नहीं। अन्तर के ज्ञानस्वभाव में जाकर ज्ञानभावरूप परिणमना—यही ज्ञान का प्रयोजन है और वही परमार्थ तीर्थयात्रा है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, स्वानुभव ही सबसे बड़ा तीर्थ है, स्वानुभव ही सर्वशास्त्रों का सार है, स्वानुभव ही केवलज्ञान

का दातार है; इसलिए अतिशय प्रेम से इस स्वानुभव का दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे स्वानुभव ज्ञान में ज्ञान का ही अवलम्बन है, राग का अवलम्बन नहीं। उपयोग को अन्तर्मुख करके ज्ञान से ज्ञान का अवलम्बन करने से केवलज्ञान प्रकाश खिल जाता है।

गाथा २३६ में भी कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ही शुद्ध तीर्थ है—

दर्शन तत्वार्थ श्रद्धानं तीर्थ शुद्धं दृष्टितं।
ज्ञानमूर्तिः सम्पूर्ण स्वात्मदर्शन चिंतनं॥२३६॥

(—**श्रावकाचार**)

तत्त्वार्थ का श्रद्धान, सो सम्यग्दर्शन है और शुद्ध दृष्टि से वही भवसागर से तारनेवाला तीर्थ है। उसमें सर्वगुणसम्पन्न ज्ञानमूर्ति स्वात्मा का दर्शन-चिन्तन है। निश्चय से तत्त्वार्थ-श्रद्धान कहो या शुद्धात्मा का दर्शन कहो, वही तीर्थ है; सात तत्त्वों का श्रद्धान, शुद्धात्मा के अनुभवसहित हो, तब ही यथार्थ है।

श्री तारणस्वामी 'चतुर्विध संघ' नामक प्रकरण में कहते हैं कि—

- ✦ आत्मा का स्वभाव जयवन्त रहो,
- ✦ वीतरागता के प्रकाश की जय हो,
- ✦ आत्मरमण की जय हो,
- ✦ सिद्ध परमात्माओं की जय हो,
- ✦ आत्मानुभव की जय हो,
- ✦ साधक शुद्धात्मानुभव की जय हो,
- ✦ शुद्धात्माओं के संघ की जय हो,
- ✦ आत्मा में परिणमन की जय हो,
- ✦ मोक्षरूप हित के उदय की जय हो,
- ✦ केवली के कथन-जिनवाणी की जय हो,
- ✦ स्वाभाविक साधन की जय हो,

—ऐसे बहुत प्रकार से कहकर शुद्धात्मा के अनुभव की उपादेयता बतायी है।

'श्रावकाचार' में सामायिक, उपवास आदि के कथन को करते हुए कहा है कि शुद्ध आत्मा के चिन्तन से सामायिक होती है। (गाथा ४०७)। शुद्ध दृष्टि से शुद्धात्मा में स्थिर होकर जिसने संसार सम्बन्धी राग को छोड़ दिया है और जो शुद्धतत्त्वरूप हो गये हैं, उनका ही उपवास है। शुद्धात्मा के समीप जाकर जो बसे, उसमें ही उपयोग को लगावे, उसको ही उपवास और प्रोषधोपवास आदि प्रतिमा होती है। (गाथा ४०८-४०९)

शुद्ध दृष्टि सहित चैतन्यस्वभाव के समीप बसना—ऐसा जो उपवास, उसका फल क्या है? यह कहते हैं —

उपवास फलं प्रोक्तं मुक्ति मार्गं च निश्चयं।
संसार दुःख नासंते, उपवासं शुद्धं फलं॥४१२॥

(—श्रावकाचार)

उपरोक्त शुद्ध उपवास का फल निश्चय से मोक्षमार्ग है और संसारदुःख उससे दूर हो जाता है। परन्तु—

सम्यक्त्व बिना व्रतं येन तपं अनादि कालयं।
उपवासं मास पासं च संसारे दुःख दारुणं॥४१३॥

(—श्रावकाचार)

सम्यक्त्व के बिना कोई अनादि काल से व्रत पाले, तप करे, महीना या पन्द्रह दिन के उपवास करे तो भी वह संसार के दारुण दुःख को ही भोगता है और सम्यग्दर्शनसहित शुद्धभावरूप एक भी उपवास करे तो वह जीव अवश्य मोक्ष को पावे—इसमें संशय नहीं। उसी प्रकार सचित्तत्याग प्रतिमा किसको होती है?—तो

कहते हैं कि, **सचेत चिन्तनं** अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा, उसका जो चिन्तन करता है, उसे ही मिथ्यात्व के त्याग से सचेत प्रतिमा होती है। ऐसी शैली से श्री तारणस्वामी ने बहुत कथन किया है।

चौदह पूर्व में, चौदहवाँ पूर्व 'त्रिलोक बिन्दुसार' नामक है, उसका लक्ष करके कहते हैं कि—

मध्यस्थान मयं रूपं पद विंदं च विंदते।
त्रिलोकं अर्थं शुद्धं, ज्ञानं चरणं तं ध्रुवं॥७१॥
सम्यक्त्वं च समयं शुद्धं, पंच दीप्ति समं पदं।
त्रिलोकं त्रिभुवनं अर्थं अप्पा परमप्पयं ध्रुवं॥७२॥
मध्यं च पद विदं च पदार्थं पद वेदन्ते।
व्यंजनं पदार्थं शुद्धं ममात्मा अमलं ध्रुवं॥७३॥

(—ज्ञानचमुच्चयसार)

(श्री तारणस्वामी के मूल ग्रन्थों की भाषा कुछ ऐसे ढंग की है कि उसका शब्दार्थ स्पष्ट समझाने में कठिनाई होती है, परन्तु उनके कथन का सार शुद्धात्मा के अनुभव की प्रधानता दिखाने का है।)

'त्रिलोक बिन्दुसार' नाम के पूर्व में १२,५०,००००० (साढ़े बारह करोड़) मध्यम पद हैं, प्रत्येक पद में ५१,००,००००० (इक्यावन करोड़) से अधिक श्लोक है, उसमें क्या कहा है ?— तीन लोक के पदार्थों का और तीन लोक के साररूप शुद्धात्मा का स्वरूप त्रिलोक बिन्दुसार में दिखाया है। केवलज्ञानरूप आत्मा तीन लोक में उत्तम पदार्थ है। आत्मा, परमात्मा के समान है-ऐसा शुद्ध आत्मा और शुद्ध रत्नत्रय ही तीन लोक का सार है और वही त्रिलोक बिन्दु पूर्व का सार है।

हे जीव! तीन लोक में उत्तम तू ही है... 'त्रिलोक बिन्दुसार' में जितने पदार्थों का कथन किया है, उसका सार यह है कि मेरा आत्मा निश्चय से सिद्ध-समान शुद्ध है—ऐसा अनुभव करना। तीन लोक में सार-उत्तम—ऐसा जो शुद्धात्मा, उसका सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र प्रगटे, यही त्रिलोक बिन्दु का सार है, यही चौदह पूर्व का सार है।

अरिहन्तपद आत्मा में है, सिद्धपद आत्मा में है, परमात्मपन आत्मा के गर्भ में है-आत्मा की शक्ति में सर्वज्ञपद भरा है-ऐसी जिसने श्रद्धा की, उसने अपने श्रद्धारूपी गर्भ में परमात्मा को धारण किया और अब अल्प काल में ही वह साक्षात् परमात्मा बन जाएगा, ऐसे शुद्धात्मपद को दर्शानेवाली वाणी भी शुद्ध है। राग से धर्म होगा—ऐसा कहनेवाली वाणी भी अशुद्ध है—मिथ्या है। त्रिलोक बिन्दुसार में तीन लोक के सर्व पदार्थ, उनकी पर्यायसहित दिखाये हैं। उन सब पदार्थों में सारभूत मेरा शुद्ध आत्मा है—ऐसा स्वानुभव ही सर्व पूर्व का सार है।

[८]

आठवाँ प्रवचन

भेदज्ञान मोक्षमार्ग का मूलगुण है द्वादशाङ्ग का सार स्वानुभूति में समाता है।

[वीर सं० २४८८-आश्विन शुक्ल ५]

इस ज्ञानसमुच्चयसार में अध्यात्मशैली से सम्यग्दर्शन को खास महत्त्व देकर कथन किया है। सम्यग्दर्शन के बिना निःशल्यता नहीं होती और निःशल्यता के बिना ध्यान नहीं होता। गाथा ७४ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

विशल्यं शल्य मुक्तस्य, क्रीयते ध्यान शुद्धयं।
परमानन्द आनन्दं, परमात्मा परमं पदम्॥७४॥

मिथ्यात्व सबसे बड़ा शल्य है, मिथ्यात्वादि शल्यरहित निःशल्य महात्मा को शुद्धात्मा का ध्यान होता है, वह ध्यान परमानन्दस्वरूप है और उससे उत्कृष्ट आनन्दमय परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

मोक्षार्थी को पहले देव-गुरु-धर्म का और शुद्ध आत्मा का स्वरूप पहचानकर, निःशंक प्रतीति करके, निःशल्य होना चाहिए। मिथ्यात्व शल्य, माया शल्य और निदान शल्य, इन तीनों शल्यों से रहित, निःशल्य धर्मात्मा निर्मल ध्यान कर सकता है। जिसके अन्तर में मिथ्यात्वादि शल्य है, उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप ध्यान होता नहीं और व्रतादि भी नहीं होते।

परम आनन्द का देनेवाला ऐसा ध्यान, शल्यरहित धर्मात्मा को ही होता है। सम्यग्दर्शनपूर्वक ध्यान से ही परमानन्दरूप परमात्मपद प्राप्त होता है। इसके बिना स्वाध्यायादि करे या व्रत-तप करे, किन्तु ये सब शल्यसहित हैं, उनमें आत्मा का किञ्चित् हित नहीं होता और न आनन्द की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि जीव की ज्ञानप्रभा कैसी है? कहते हैं —

लोकालोकं च वेदंते, विद्यमानो सुयं प्रभा।
कुज्ञानं विलयं याति, ज्ञानं भुवनं भास्करं॥७५॥

वर्तमान में सम्यग्दृष्टि को जितना श्रुतज्ञान विद्यमान है, उसमें भी इतनी शक्ति है कि वह लोकालोक के पदार्थों का स्वरूप जान लेता है। सम्यक् श्रुतज्ञान की प्रभा, लोकालोक को जान लेती है। यह ज्ञान भुवनभास्कर अर्थात् जगत का प्रकाशक है, इस ज्ञान-प्रकाश से अज्ञान का विलय होता है।

बहुत लोगों को तो केवलज्ञान के अचिन्त्यसामर्थ्य का भी विश्वास नहीं आता, यहाँ तो कहते हैं कि श्रुतज्ञान भी अचिन्त्य सामर्थ्यवाला है। सम्यक् श्रुतज्ञान की प्रभा भी ऐसी सामर्थ्यशाली है कि वह लोकालोक के स्वरूप को जान लेती है। केवलज्ञान में और श्रुतज्ञान में मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का अन्तर समझ में आता है। श्रुतज्ञान में सब पदार्थों के निर्णय करने की शक्ति है। उस जगत प्रकाशी सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान का विलय हो जाता है। भुवनभास्कर ज्ञानप्रकाशी सूर्य ऊगा, कि अज्ञान-अन्धकार भागा। स्व क्या और पर क्या? स्वभाव क्या और विभाव क्या? निश्चय क्या और व्यवहार क्या? उपादान क्या और निमित्त क्या? स्वभाव क्या और संयोग क्या?—इन सबका निर्णय सम्यक् श्रुतज्ञान कर लेता है, और इन

सबका निर्णय करके वह ज्ञान, अन्तरस्वभाव की ओर जाता है। बारह अंगों का ज्ञान भले ही विद्यमान न हो तो भी उन सबका सार इस अन्तर्मुखी ज्ञान में समा जाता है।

ऐसा श्रुतज्ञान-भेदज्ञान प्रगट करना, यह मूलगुण है, मूलधर्म है और बाद में ध्यान के द्वारा विशेष शुद्धता प्रगटे-वह उत्तरगुण है। मूलगुण और उत्तर गुण का अध्यात्मशैली से कथन करते हुए गाथा ३८३ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि —

गुन रूव भेय विज्ञानं ज्ञान सहावेन संजुत्त धुव निश्चं।
मूल गुनं सं सुद्धं उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं॥३८३॥

ज्ञानस्वभावी आत्मा के दृढ़ निर्णय से भेदविज्ञानरूप गुण का धारण करना, सो मूलगुण है। इसके बाद शुद्धता का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना, सो उत्तरगुण है। भेदज्ञान ही असली मूलगुण है, इसके बिना व्यवहार-मूलगुण (श्रावक के ८ मूलगुण व मुनि २८ मूलगुण) का कोई महत्त्व नहीं। भेदज्ञानरूप मूलगुण जिसको नहीं, वह चाहे त्यागी भी हो और व्यवहार मूलगुण—उत्तरगुण का पालन भी करे तो भी उसको सचमुच में गुण या धर्म नहीं कहते। मद्य-माँस-मधु आदि के त्याग मात्र से अपने को श्रावक मान ले, या अचेलकता आदि से अपने को मुनि माल ले, तो भी सचमुच में उसको श्रावक का या मुनि का एक भी मूलगुण नहीं—यदि भेदज्ञानरूपी मूलगुण प्रगट न करे। '**मूलं नास्ति कुतो शाखा ?**' सब गुणों का मूल तो भेदज्ञान है। भेदज्ञानरूपी मूल ही जहाँ नहीं, वहाँ अन्य गुणों की शाखा कैसी ? भेदज्ञानरूपी हो, वही बाद में आत्मध्यान के द्वारा रागादि को दूर कर, उत्तरोत्तर शुद्धता की वृद्धि करता-करता चारित्र और केवलज्ञान प्रगट करता है, उसको यहाँ उत्तरगुण कहा है।

पहले 'मूल' और बाद में 'उत्तर' होता है। मूलगुण का ही जिसको छेद है, उसको उत्तरगुण कहाँ से होगा? जिसको भेदज्ञान ही नहीं, उसको चारित्र या केवलज्ञान कहाँ से होगा? ऐसे भेदज्ञानरूप मूलगुण-निश्चय गुण के बिना अकेले व्यवहार मूलगुण के शुभराग में आत्मा का कल्याण नहीं है।

मोक्षरूपी फल को उत्पन्न करनेवाला जो आत्मधर्मरूपी वृक्ष, उसका मूल भेदज्ञान है। जैसे दूज का चन्द्र बढ़ते-बढ़ते पूर्ण होता है, वैसे भेदज्ञान के द्वारा जो शुद्धात्मानुभव हुआ, वह बढ़ते-बढ़ते वीतरागता और केवलज्ञान होता है। इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन को मूलगुण कहा है और बाद में आत्मशुद्धि की वृद्धि होती जाए, उसको उत्तरगुण कहा है। ऐसे मूलगुण और उत्तरगुण के बिना मुनिपना नहीं होता। जिसने ऐसे गुण प्रगट करके रागादि परभावरूप चेल-स्वभाव छोड़ दिया है,—जैसे वस्त्र देह को ढ़कता है, वैसे परभावरूप वस्त्र शुद्धस्वभाव को ढक देता है—ऐसे परभावरूप वस्त्र का ग्रहण जिसने छोड़ दिया है—उसको ही अचेलतक मुनिपद होता है।

'ज्ञानचमुच्चयसार' अर्थात् १२ अंग का सार क्या है, यह कहते हैं —

पूर्वं पूर्व उक्तं च द्वादशांग समुच्चयं।
ममात्मा अङ्ग सार्धं च, आत्मनं परमात्मनं॥७६॥

पूर्व एवं पूर्वांगरूप जो समुच्चय बारह अंग, उसके कथन का सार यह है कि मेरा आत्मा, शरीरसहित होने पर भी निश्चय से यह आत्मा परमात्मा है। निश्चयरत्नत्रयस्वरूप आत्मा के अनुभव तक पहुँचना, यह सर्व जिनवाणी के ज्ञान का सार है। देह होने पर भी,

देह से भिन्न अतीन्द्रिय आत्मा का स्पष्ट प्रतिभास होना—मेरा आत्मा, देह से अस्पर्श्य, चैतन्यशरीरी परमात्मा है, जैसा अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है,—ऐसे निजात्मा का गाढ निश्चयपूर्वक भान और वेदन होना, यह बारह अङ्गरूप सर्वश्रुत का सार है। समयसार, गाथा १५ में भी कहा है कि जिनशासन का सार क्या?—कि शुद्धात्मा ही जिनशासन का सार है। शुद्धात्मा को जिसने देखा, उसने समस्त जिनशासन को देखा। निश्चय से जो शुद्धात्मा की अनुभूति है, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है, वही सर्वश्रुत का सार है और चारों आराधनायें भी उसमें ही समा जातीं हैं।

सम्यग्दर्शनं शुद्धं, शुद्ध मयं ध्रुवं।
चरणं शुद्ध पदं सार्थं, सहकारेण तपं ध्रुवं॥७७॥
आराहन च चत्वारि, भावनं शुद्ध चेयनं।
मृदमूर्ति समं शुद्धं अप्पा परमप्प संजुतं॥७८॥

(—ज्ञानचमुच्चयसार)

शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन, शुद्धात्मा के स्व-संवेदनरूप सम्यग्ज्ञान, शुद्धात्मा में आचरणरूप सम्यक्‌चारित्र एवं इन तीनों रत्नों के साथ चैतन्य के प्रतपनरूप तप—ऐसी चारों आराधनाऐं शुद्ध चेतनाभावरूप हैं और वही बारह अङ्ग का सार हैं। आत्मा मोम की मूर्ति के समान शुद्ध परमात्मा तुल्य है। ज्ञानी धर्मात्मा ने सुदृष्टि से बारह अङ्गरूप श्रुत-समुद्र का मंथन करके क्या निकाला?—कि परम अमृतरूप चैतन्यरत्न का अनुभव प्राप्त किया। अरे जीव! ऐसी तेरी चैतन्य चीज है, उसको अन्तर में देख, यही सर्व सन्तों का और सर्व शास्त्रों का उपदेश है।

'भगवती आराधना' में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का वर्णन किया है, वहाँ भी कहा है कि आराधना ही सर्वश्रुत का सार है और आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध करना, अर्थात् आत्मा को शुद्ध स्वभावरूप अनुभव करना—इन अनुभव में चारों आराधनाऐं समा जाती हैं। भगवती आराधना में तो कहते हैं कि तीन लोक में सार ऐसी आराधना जिसने प्राप्त की, वह 'भगवान' है।

तेल्लोक सव्व सारं, चउगइ संसार दुक्खणासयरं।
आराहणं पवण्णो, सो भयवं मुक्खपडिमुलं॥१९२३॥

तीन लोक के समस्त साररूप और चतुर्गति संसार के दुःख का नाश करनेवाली तथा मोक्ष के मूलरूप ऐसी आराधना से जो सम्पन्न है, वह भगवान है। सर्वश्रुतज्ञान, आराधना से ही निबद्ध है, अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभवरूप जो आराधना, उसका ही विस्तार सर्वश्रुत में है।

मोक्ष साधन में कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं, उनको जानना चाहिए—

कारणं कार्य्यं सिद्धं च, तं कारण कार्य उद्यमं।
स कारणं कार्य शुद्धं च, कारणं कार्यं सदा बुधैः॥८०॥
कारणं दर्शनं ज्ञानं, चरणं शुद्ध तपः ध्रुवं।
शुद्धात्मा चेतना नित्यं, कार्यं परमात्मा ध्रुवं॥८१॥

(—ज्ञानचमुच्चयसार)

कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, इसलिए कारण-कार्य को उद्यमपूर्वक जानना चाहिए। मोक्ष के साधन में कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं। बुधजनों को ऐसे शुद्ध कारण-कार्य का सेवन करना

चाहिए। शुद्धात्मा का अनुभव ही शुद्ध साधन है। शुद्धात्मा का चेतनारूप जो शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप, वह कारण है और उसके द्वारा नियम से परमात्मपदरूपी कार्य सधता है।

श्री तारणस्वामी ने वात्सल्य, भक्ति, अनुकम्पा आदि का भी अध्यात्मशैली से कथन किया है। भेदज्ञान से शुद्धात्मा की जो परम प्राप्ति, यही परमार्थ वात्सल्य है। (देखिए, ज्ञानसमुच्चयसार गाथा २३५-२३६)

गाथा २३७-३८-३९ में अनुकम्पा का कथन करने हुए कहते हैं कि—समस्त जीवों के ऊपर दयाभावरूप अनुकम्पा रागसहित होने से व्यवहार है और निश्चय अनुकम्पा शुद्ध वीतरागभाव है। सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव के द्वारा जिसने परभावरूप हिंसा से आत्मा को बचाया, उसको निश्चय अनुकम्पा है। ऐसी अनुकम्पा, मोक्ष का कारण है।

दर्सीति शुद्ध तत्वं, अप्पं च अप्प गुने हि दर्सीति।
अप्पा परमप्पानं, अनुकम्पा लहति निव्वानं॥२३९॥

निश्चय अनुकम्पा शुद्ध आत्मतत्व को तथा आत्मगुणों को देखती है, आत्मा को परमात्मस्वरूप से अनुभवती है, ऐसी अनुकम्पा ही निर्वाण में ले जाती है। इसके सिवाय दयाभावरूप जो शुभराग है, वह तो कषायसहित है, सत्य वीतराग आत्मिक भाव से वह विरुद्ध है, वह मात्र पुण्यबन्ध का कारण है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं कि मोक्ष में ले जाए।

औषधिदान के बारे में गाथा २८१ में कहते हैं कि, सच्चा औषधिदान वह है कि जिसमें संसारभ्रमणरूप रोग की मुक्ति के लिए जिनोपदेशरूप औषधि का ग्रहण किया जाए, और उसका

सेवन (साधन) किया जाए। जिनेन्द्र भगवान के उपदेशरूप औषधि का ग्रहण करके, उसमें कहे हुए शुद्धात्मा के अनुभव से भवरोग को मिटाना, यही परमार्थ औषधिदान है। जो संसार-रोग से छूटना चाहे, उसको स्वयं ऐसी औषधि का सेवन करना चाहिए। सबसे बड़ा रोग भवरोग है, वह रोग जिससे मिटे - ऐसी औषधि (शुद्धात्मा के अनुभवरूप औषधि) आप सेवन और दूसरों को सेवन करावें, यह औषधिदान है।

आत्मभ्रांति सम रोग नहिं सद्‌गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं औषध विचार ध्यान॥

(—श्रीमद् राजचन्द्र)

गुरु-आज्ञा क्या है ?—शुद्धात्मा को पहिचानकर उसका ध्यान करना, यही गुरु-आज्ञा है और वही भवरोग मिटाने की औषधि है।

फिर आहारदान के बारे में भी (गाथा २८५-२८६ में) कहते हैं कि—

आहारदानं सुद्धं, ज्ञानं आहार दिंति पत्तस्य।
तिक्तं जीव आहारं, ज्ञान आहार कुनय भय हननं॥२८५॥

आहार दान सुद्धं, पत्तं जो देई भाव सुद्धं च।
सो भव दुक्ख विनासै, पत्तं आहार ज्ञान स संहाव॥२८६॥

(—ज्ञानचमुच्चयसार)

शुद्ध आहारदान वह है कि पात्र को ज्ञान का आहार दिया जाए। लौकिक भोजन से तो शरीर की एकबार की भूख मिटती है, किन्तु यह ज्ञान-भोजन तो आत्मा की भव-भव की भूख मिटा देता है, और मिथ्यात्वादि का तथा मरण का भय भी इस ज्ञान से ही दूर हो जाता है; इसलिए परमार्थ अभयदान भी यही है। धर्मात्मा इत्यादि

को भक्तिपूर्वक आहारादि दान का भाव, वह शुभराग है। सम्यग्दृष्टि जीव पात्र-अपात्र को पहिचानकर, पात्र जीव को शुद्धात्मा के अनुभवरूप उपदेश देता है, जिसके सेवन से पात्र जीव भवरोग का नाश कर देता है। सच्चा आहारदान और अभयदान आत्मज्ञान हो है —जिससे कि आत्मा परमतृप्ति पाता है और निर्भय होता है। ज्ञानदान भी यही है और भव रोग को मिटानेवाला औषधिदान भी यही है।

अतिथि संविभाग का वर्णन करते हुए गाथा ४९६-४९७ में कहते हैं कि —

अतिथिं सुयं विभागं, मिथ्या मय राग दोस विरयंतो।
अज्ञानं न हु पिच्छै, सुद्ध सहावं च पिच्छये अप्पा॥४९६॥
सुयं विभागं सुद्धं, अन्यो पुग्गल वियान अप्पानं।
विवगत सरूव सुद्धं, अप्पा परमप्पयं जानं॥४९७॥

(—ज्ञानचमुच्चयसार)

'अ-तिथि' अर्थात् जिसको कोई तिथि नहीं, जिसको काल की मर्यादा नहीं—ऐसा अनादि-अनन्त, शुद्धात्मस्वरूप, उसका संविभाग करना, उसको पर से भिन्न जानना। पुद्गल अन्य है और मेरा आत्मा अन्य है—ऐसा सम्यक् विभाग भेदज्ञान से करना, वह परमार्थ अतिथि संविभाग है। अपना आत्मारूप जो अतिथि है, उसको आत्मा का अनुभव प्रदान करना, यह अतिथि संविभाग है। कोई तिथि की या काल की मर्यादा जिसको लागू नहीं होती—ऐसा जो अपना त्रिकाली आत्मा, वही 'अतिथि' है, उसको शुद्ध ज्ञान-आनन्दरस के अनुभव का भोजन कराना, यही महान अतिथि संविभाग व्रत है। ऐसे भान के साथ बाहर में दूसरे साधर्मी धर्मात्मा आदि अतिथियों को बहुमान के साथ आहारदानादि की वृत्ति, वह

शुभभाव है। जिसको स्व-पर का विभाग नहीं, जिसको धर्मात्मा के प्रति सच्चा प्रेम नहीं, उसको सच्चा अतिथि संविभाग व्रत नहीं होता।

सम्यक् प्रकार से आत्मा के स्वरूप को लिखना-जानना-अनुभवना, यह संलेखना है। शुद्धात्मा का अनुभव होने पर देहादि की ममता छूट जाती है और कषायों का भी अभाव हो जाता है।

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ५०० में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

बारह बय उवएसं, धरन्ति भावे विसुद्ध सद्भावं।
आसन्न भव्व पुरिसा, ज्ञान बलेन निव्वुए जंती ॥५००॥

विशुद्ध भावरूप बारह व्रत के उपदेश को जो धारण करता है, वह असान्नभव्य पुरुष ज्ञानबल से निर्वाण को पाता है।

मिथ्यात्व से पर में अहंबुद्धि का होना, वह मिथ्यामान है। सम्यक्त्व होते ही वह मिथ्यामान छूट गया और अपने स्वरूप में ही आपकी अहंबुद्धि हुई, तब सम्यक् भाव प्रगटा। उसका कथन करते हुए गाथा १४०-१४१ में कहते हैं कि आत्मा, परमात्मा के समान हैं—ऐसा जो मान-माप-प्रमाण करना, सो परिमाण है, वह सम्यक्मान है। आत्मा का ऐसा माप करो कि यह आत्मा परमात्मा के बराबर है। ऐसा मान (नाप-परिमाण) करने से परपदार्थ में अहंरूप मिथ्या मान का भाव दूर हो जाता है।

'मान' का अर्थ ज्ञान भी होता है। मान अर्थात् सम्यग्ज्ञान, तीन काल-तीन लोक और अलोक का नाप लेनेवाला है और वह उत्कृष्ट मान (उत्कृष्ट प्रमाण, उत्कृष्ट ज्ञान) केवलज्ञान है। ऐसे केवलज्ञानरूपी महामान के धारक सर्वज्ञ भगवान अरिहन्तदेव पूज्यनीय हैं। जहाँ ऐसा सम्यग्ज्ञान मान प्रगटे, वहाँ दोषरूप मान टूट जाता है।

मिथ्यात्वसहित की माया जीव को कुगति में भ्रमाती है, उसके त्याग का उपदेश देकर बाद में ज्ञानसमुच्चयसार गाथा १४८-१४९ में 'शुद्धमाया' का स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि—

माया शुद्धं जिन प्रोक्तं, त्रिलोक त्रिभुवनमयं।
ति अर्थ षट् कमलं च, पंचदीप्ति परमेष्ठिनः ॥१४८॥

माया ज्ञान समं जुक्तं, माया दर्शति दर्शनं।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, माया मुक्ति पथं बुधैः ॥१४९॥

'माया' लक्ष्मी को कहते हैं, शुद्ध माया अर्थात् शुद्ध लक्ष्मी तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय है। स्वानुभूतिरूपी लक्ष्मी, रत्नत्रयरूप लक्ष्मी अथवा केवलज्ञानरूप लक्ष्मी, वह उत्कृष्ट आत्म-लक्ष्मी है, वही शुद्ध माया है। ऐसी शुद्ध मायारूप स्वरूपलक्ष्मी जिसने अङ्गीकार की, उसको जगत के मिथ्यात्वादि परभावरूप माया-प्रपंच छूट जाता है; इसलिए कहा कि '**माया मुक्ति का पंथ है**'—

समभावयुक्त ज्ञान-लक्ष्मी और शुद्धात्मा को देखनेवाली दर्शन-लक्ष्मी, यह माया है। आत्मा को परमात्मरूप से देखनेवाली यह ज्ञान-दर्शनरूप 'माया', वह मुक्ति का पथ है—ऐसा बुधजनों ने कहा है।

देखे, दृष्टि के पलटते ही अर्थ पलट जाता है। किसी भी शब्द के बहाने से शुद्धात्मा की ओर ले जाना है। 'माया, यह मुक्ति का मार्ग'—यह सुनते ही चौंक उठने जैसी बात है, परन्तु भाई! तू धीरज से समझ तो सही! कौन सी माया?—कि अपने स्वरूप की लक्ष्मीरूप माया, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप माया

(लक्ष्मी), वह मोक्ष का मार्ग है—ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। कोई मिथ्यात्वादि मायाचार के पाप को तो मोक्ष का मार्ग नहीं कहा।

दुपद परिग्रह और चौपद परिग्रह के सम्बन्ध में ज्ञानसमुच्चय सार गाथा ४४३-४४४ में कहते हैं कि—

दुपदं दुबुहि जुत्तं अज्ञानं ज्ञान सुद्ध पद रहियं।
दुपदं अनिष्ट दिष्टं, इष्ट विओय दुपद तिक्तं च॥४४३॥

दुपदं दुर्मति जुत्तं, हिंसानंदी च दुर्बुधिं जुत्तं।
दुपदं निगोय भावं, ज्ञान सहावेन दुपद तिक्तं च॥४४४॥

दुपद अर्थात् मिथ्यापद, दुबुद्धि सहित भाव, वह दुपद है, मिथ्याज्ञान को दुपद कहते हैं। ज्ञानानन्दमय निजपद का जिसे अनुभव नहीं है, वह परभावरूप दुपद में रमण करता है, उसे परमार्थ से दुपद परिग्रह है। शुद्ध चैतन्यपद के अनुभव से धर्मात्मा ने ऐसे दुपद परिग्रह का त्याग किया है। मिथ्यात्वादि परभाव, वही दुपद है। उसकी पकड़ निगोद में ले जानेवाली है। सुपद अर्थात् स्व-पद; इससे जो उल्टा, वह दुपद। मोक्षमार्ग से विरुद्ध समस्त परभावों की श्रेणी दुपद है। इसी प्रकार चतुष्पद परिग्रह अर्थात् चार गति सम्बन्धी परिग्रह, अथवा चार गति में होनेवाले चार कषाय से मिलितभाव, अथवा चार प्रकार के बन्धरूप भाव, उसकी पकड़, वह चतुष्पद परिग्रह है। धर्मात्मा आत्मज्ञान के बल से उस चौपद परिग्रह को छोड़ता है। बाहर में दास-दासी आदि दुपद या हाथी, घोड़ा आदि चौपग का त्याग, वह तो उपचार से है; शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा के सम्यक् भानपूर्वक उसमें लीन होने से समस्त परभाव का परिग्रह छूट जाता है।

'श्रावकाचार' गाथा १४२ में कहते हैं कि पाँच इन्द्रियों के विषयों में जो रंजायमान होता है, वह मिथ्यात्व में आनन्द मानकर मृषानंद रौद्रध्यानसहित वर्तता है, अथवा वह पुण्य करने में उत्साह रखता है। इस प्रकार संसार के कारणरूप दोष में प्रसन्न होकर उसमें तन्मय रहता है। विषयों का लोभी, मोक्षमार्ग को भूलकर पुण्यकर्म करने में बड़ा ही उत्साही हो जाता है।

श्रावकाचार गाथा ३७२ में कहते हैं कि 'शुद्ध ज्ञान जलं तीर्थं..' चैतन्यस्वरूप आत्मा शुद्ध ज्ञानजल से भरा हुआ तीर्थ है, उसमें स्नान करने से (मग्न होने से) शुद्ध संयम होता है।

जो रत्नत्रय गुणों से अलंकृत हो, वह साधु सम्पूर्ण गुणों से सहित है क्योंकि जगत में भव्यजीवों के द्वारा रत्नत्रय पूज्य है। (गाथा ३४२)। गाथा ३४३ में कहते हैं कि—

देव गुरु पूज सार्धं च अङ्ग सम्यक्त्व शुद्धये।
सार्धं ज्ञानमयं शुद्धं, सम्यग्दर्शन मुत्तमं॥३४३॥

इसमें कहते हैं कि सम्यक्त्व की शुद्धि के लिये देव-शास्त्र-गुरु की पूजा कर्तव्य है, परन्तु अकेले उसमें ही रुक जाये और अन्तर में न झुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसलिये कहते हैं कि साथ में ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करना, वह उत्तम सम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्ध ज्ञानवंत जीव लोक में पूजित होते हैं— जिन्होंने ज्ञान की आराधना की हो और पूज्य तत्त्व (शुद्ध आत्मा) का अनुभव किया हो। (गाथा ३४५)

उसी प्रकार श्रुतपूजा के सम्बन्ध में कहते हैं कि-बुधजनों को चार अनुयोगमय श्रुत की पूजा सदा कर्तव्य है। श्रुतपूजा धर्मध्यान -संयुक्त कही गई है। धर्मध्यान, वही परमार्थ से श्रुतपूजा है।

पंडित कौन ?—'उपदेश शुद्धसार' गाथा ३२ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि वही सच्चा पंडित है—जो शुद्ध विवेकरूप भेदविज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा को जानता है। यह विवेकी पंडित, संसार-मार्ग से छूट जाता है और कर्मों का क्षय करके मुक्ति में पहुँच जाता है।

कारण जैसा कार्य होता है। सम्यग्दृष्टि अपने शुद्धोपयोग के अभ्यास से केवलज्ञानरूप कार्य उपजाता है। (देखो, 'उपदेश शुद्धसार', गाथा ५३५)

ममल पाहुड़, पृष्ठ १२४ (भाग दूसरा) में कहते हैं कि सिद्धस्वरूप में लीन होकर स्वानुभूति जिनेन्द्र भगवान के साथ होली खेलती है।

पृष्ठ १६७ से १७७ में ७३ वाँ प्रकरण 'संसर्ग सोलही' नाम का है; उसमें मोक्षार्थी को कैसे कुटुम्ब का संसर्ग हो, यह बात सुन्दर उपमा देकर के दिखायी है। मोक्षार्थी को पिता, माता, भाई, भगिनी, बेटा, बेटी, स्त्री आदि कैसे हों ? उसका अलंकारयुक्त वर्णन किया है।

बार-बार शुद्धात्मचिंतवन करनेवाला धर्मात्मा कहता है कि—हे परमात्मा ! तू ही मेरा पालनकर्ता बाप है / पिता है। आप अपने स्वरूप में स्थित हमारे रक्षक पिता हैं। पिता की आज्ञानुसार चलने से पुत्र भी पिता के समान हो जाता है अर्थात् उसको परमात्मपद प्रगट होता है।

प्रमाणरूप शुद्धज्ञान परिणति ही मेरी माता है, उसके द्वारा ही परमात्मपद का जन्म होता है। परमात्मा की माता शुद्धोपयोग-परिणति है, वही श्रेष्ठ मोक्षरूप परमात्मपद की माता है।

शुद्धोपयोग ही मेरा भाई है, क्योंकि वह शुद्धोपयोग मोक्ष में

जाने के लिये भाई के समान सहायक है और निर्मल सम्यग्ज्ञान की परिणति ही भद्रस्वभाववाली प्रशंसनीय बहिन है—जो कि मोक्षार्थी आत्मा के ऊपर उपकार करती है। ज्ञान-परिणति ही आत्मा की मुख्य और अवश्य उपकार करनेवाली बहिन है। यह निर्मल आत्मदृष्टिरूपी भगिनी सर्व भय का नाश करनेवाली है, वह स्वयं ज्ञान और आनंदरूप है।

मोक्षार्थी को आत्मानुभूतिरूपी स्त्री है, वह आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्न-भण्डार की सम्भाल करनेवाली है और परम आनन्दकारी पुत्र को जन्म देनेवाली है। ऐसी स्वानुभूति में रमण करने से परमात्मपदरूपी पुत्र की उत्पत्ति होती है।

केवलज्ञान, वह शुद्धोपयोग का बेटा है, और निर्मल दृष्टि शुद्धोपयोग की बेटी है। शुद्धोपयोग से निर्मल दृष्टि और केवलज्ञान प्रगट होते हैं; इसलिये वही सच्चे बेटे-बेटी हैं। (उसी प्रकार श्वसुर व साली का भी वर्णन किया है।)

आत्मा का मित्र कौन?—तो कहते हैं कि निर्मल ज्ञान का मिलन ही आत्मा का सच्चा मित्र है, उसमें पाँचों ज्ञान गर्भित हैं। इस मित्र के प्रताप से आत्मा ने अपने सहज शुद्धस्वभाव का अनुभव कर लिया और रत्नत्रय की प्राप्ति कर ली। इस ज्ञान-मित्र के प्रताप से परमात्मपद की प्राप्ति होती है।

मोक्ष में जाते हुए आत्मा का सहकारी-साथीदार कौन? सम्यग्दर्शन ही आत्मा का सच्चा सहकारी है-जो कि सदा ध्रुवरूप साथ में रहता है, जिसके प्रताप से आत्मा का प्रेम होता है। इस सम्यक्त्व के सहकार से आत्मा सहज ही रत्नत्रयमय शुद्ध आत्मा का अनुभव कर लेता है, और अविनाशी मोक्षपद में पहुँच जाता है।

इस प्रकार ऐसे आत्मिक कुटुम्ब के संसर्ग से भव्य मोक्षार्थी जीव को शुद्धात्मा का लाभ होता है। मोक्षार्थी आत्मा को सहज स्वाभाविक शुद्ध गुणों का ही संग है। उनके संसर्ग से मोक्षपद पाकर जीव परम आनन्द में मग्न रहता है।

इस तरह पिता-माता, बेटा-बेटी, भाई-बहन आदि के बहाने से भी मोक्षार्थी जीव बारबार अपने शुद्धात्मा का चिंतन करता है और उसका ही संसर्ग करता है। ऐसे चैतन्य के संसर्ग से वह स्वयं तरणतारण परमात्मा हो जाता है।

—ऐसे तारणतरण अरिहंत परमात्मा की जय हो!

इति अष्ट प्रवचन समाप्त

गुरु उपदेश सों पायके अष्ट प्रवचन आज,
सम्यग्दर्शन-ज्ञान है तारनतरन जहाज।
अष्ट प्रवचन कहान के दर्शाते 'भगवान',
हरि-भक्त वो झेल के हो जावे भव पार॥

सम्यक्त्वसूर्य

धर्मात्मा के अन्तर में सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ है। निःशङ्कितादि आठ किरणों से जगमगाता वह सम्यक्त्व सूर्य अल्प काल में ही आठों कर्मों को भस्म करके सिद्धपद प्राप्त कराता है। उस सम्यक्त्व के आठ अङ्ग सम्बन्धी प्रवचन यहाँ दिये जा रहे हैं। यह 'अष्टाङ्ग प्रवचन' भी सम्यक्त्व का परम बहुमान और प्रेरणा जागृत करते हैं; इसलिये सर्व जिज्ञासुओं को अवश्य आनन्दित करेंगे।

निःशङ्कितादि अष्ट किरणों से जगमगाता

सम्यक्त्व सूर्य

स्वसन्मुखता से अन्तरस्वभाव के निर्विकल्प अनुभवपूर्वक धर्मात्मा के अन्तर में निःशङ्कितादि किरणों से जगमगाता जो सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य उदित हुआ, उस सूर्य का प्रताप आठों कर्मों को भस्म कर देता है और अष्ट महागुण संयुक्त सिद्धपद की प्राप्ति कराता है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा के ऐसे आठ गुणों का अद्भुत वर्णन समयसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने किया है; उसका विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन।

सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा के आठ चिह्न

- ✤ अन्तर में जिस स्वभाव का वेदन हुआ, उसमें धर्मी जीव निःशङ्क है।
- ✤ धर्मात्मा ने अपने अन्तर में ज्ञान-आनन्द के निधान देख लिये हैं, फिर उसे दूसरे की आकांक्षा क्यों होगी ?-इसलिए वह निःकांक्ष है।
- ✤ मलिनता की मूर्ति ऐसी देह से तथा अशुचिरूप विभावों से भिन्न, रत्नत्रयस्वभावी मेरा आत्मा स्वयं पवित्र है,-ऐसा जाननेवाला धर्मात्मा निर्विचिकित्सा होता है।
- ✤ ज्ञायकस्वभाव में मोह ही नहीं है तो उलझन कैसी ?-इसलिए धर्मात्मा अपने स्वभावपंथ में उलझते नहीं हैं अर्थात् अमूढ़दृष्टि होते हैं।
- ✤ सम्यक्त्वी धर्मात्मा ने रत्नत्रय गुणों को प्रसिद्ध करके दोषों का उपगूहन कर डाला है और उपयोग को शुद्ध आत्मा में गुप्त किया है, इसलिए वे उपगूहक हैं और रत्नत्रयधर्म की वृद्धि करनेवाले हैं।
- ✤ अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में दृढ़रूप से स्थिर किया है, इसलिये धर्मात्मा को स्थितिकरण है।
- ✤ रत्नत्रय को अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से देखते हैं, इसलिये धर्मात्मा को उस रत्नत्रय के प्रति परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है।
- ✤ चैतन्य-विद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर अपने आत्मा को ज्ञानमार्ग में परिणमित करते हुए सम्यक्त्वी धर्मात्मा जिनेश्वरदेव के मार्ग की प्रभावना करते हैं।

— इस प्रकार निःशङ्कता आदि आठ अङ्गों से परिपूर्ण ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र द्वारा सम्यक्त्वी जीव आठों कर्मों का नाश कर देता है।

अष्ट किरणों से जगमगाता सम्यक्त्वरूपी सूर्य सम्यक्त्वी के आठ अङ्गों का अद्‌भुत वर्णन

[समयसार गाथा २२९ से २३६ के प्रवचनों से]

सम्यग्दृष्टि-अन्तरात्मा की अद्‌भुत अन्तर परिणति की महिमापूर्वक आचार्यदेव कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को निःशङ्कता आदि जो आठ चिह्न हैं, वे आठ कर्मों को हनन कर डालते हैं। समकिती धर्मात्मा, अन्तर्दृष्टि द्वारा निजरस से भरपूर ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप को निःशङ्करूप से अनुभव करता है। ज्ञान के अनुभव में रागादि विकार को जरा भी नहीं मिलाता। निःशङ्करूप से ज्ञानस्वरूप का अनुभव समस्त कर्मों को घात कर डालता है।

ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा ही आठ कर्मों का नाश होता है। श्रद्धा में जहाँ परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव को रागादि से पार जाना, वहाँ फिर उस चैतन्यस्वभाव के अनुभव द्वारा ज्ञानी को प्रतिक्षण कर्मों का नाश ही होता जाता है और नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता — इस प्रकार श्रद्धा के बल से धर्मी को नियम से निर्जरा होती है। ज्ञानस्वरूपी आत्मा अबन्धस्वभावी है, उसके सन्मुख दृष्टि होने के कारण ज्ञानी को बन्धन नहीं होता।

देखो! यह श्रद्धा की महिमा! स्वभावोन्मुखदृष्टि होने से जो सम्यक्त्वरूपी जगमगाता हुआ सूर्य उदित हुआ, उसका प्रताप

समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है। निःशङ्कता, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, इन आठ अङ्गरूपी किरणों से जगमगाता हुआ जो सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ, उसके प्रताप से सम्यग्दृष्टि समस्त कर्मों को भस्म करके अल्प काल में ही सिद्धपद प्राप्त करता है। पूर्व कर्म का उदय वर्तता है, तथापि दृष्टि के बल से सम्यग्दृष्टि को नवीन कर्मों का बन्ध पुनः नहीं होता, किन्तु पूर्व कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है। उदय है, इसलिए बन्ध होता है, यह बात ही नहीं रहती; उदय-काल में चिदानन्दस्वभाव के ओर की दृष्टि के बल से आत्मा उस उदय को खिरा देता है, इसलिए वह उदय उसे बन्ध का कारण हुए बिना निर्जरित हो जाता है। सम्यक्त्वरूपी सूर्य का उदय, कर्म के उदय को भस्म कर डालता है। जहाँ मिथ्यात्व के बन्धन को उड़ा दिया, वहाँ अस्थिरता के अल्प बन्धन की क्या गिनती? वह भी क्रमशः दूर होता जाता है। इस प्रकार ज्ञानी को स्वोन्मुख परिणति के कारण कर्म की निर्जरा ही होती है और अल्प काल में सर्व कर्मों का नाश करके वह सिद्धपद प्राप्त करता है। ऐसी सम्यग्दर्शन ही महिमा है।

मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावी हूँ—ऐसी प्रतीति के बल से सम्यक्त्वी को निःशङ्कितादि आठ गुण होते हैं और शङ्कादि आठ दोषों का अभाव होता है, इसलिए उसे बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। सम्यक्त्वी के आठ अङ्गों का आठ गाथाओं द्वारा आचार्यदेव अद्भुत वर्णन करते हैं:—

१. सम्यग्दृष्टि का निःशङ्कित अङ्ग

जो कर्मबन्धनमोहकर्त्ता, पाद चारों छेदता।
चिन्मूर्ति वो शङ्कारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥२२९॥

देखो, यह समकिती जीव का चिह्न! यह समकिती के आचार! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जानता है कि मैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभाव हूँ, बन्धन मेरे स्वभाव में है ही नहीं; इस प्रकार अबन्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से धर्मी को बन्धन की शङ्का नहीं होती। आत्मा के स्वभाव में बन्धन की शङ्का या भय होवे, वह तो मिथ्यात्वभाव है; धर्मी को उसका अभाव है। कर्म और उस कर्म की ओर का भाव, वह मेरे स्वभाव में है ही नहीं; मैं तो एक ज्ञायकस्वभाव हूँ-ऐसी दृष्टि में धर्मी को निःशङ्कता है; इसलिए शङ्काकृत बन्धन उसे नहीं होता, परन्तु निःशङ्कता के कारण निर्जरा होती है।

देखो भाई! लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करने से कोई यह चीज मिले ऐसा नहीं है, यह तो अन्तर की चीज है। पैसा तो पूर्व के पुण्य से मिल जाये, परन्तु यह चीज तो पुण्य से मिले वैसी नहीं है। पैसा और पुण्य दोनों से पार अन्तर की रुचि और प्रतीति का यह विषय है। मैं एक जाननेवाला-देखनेवाला स्वभावमय हूँ। दूसरे बन्धभाव मेरे स्वरूप में हैं ही नहीं-ऐसी दृष्टि से अबन्ध परिणाम में वर्तते सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को बन्धन होने की शङ्कारूप मिथ्यात्व आदि का अभाव है। धर्मी जानता है कि मैं ज्ञायकभाव हूँ; 'मेरा ज्ञायकभाव कर्मों से ढँक गया'—ऐसी शङ्का उसे नहीं होती। कर्मबन्ध के कारणरूप मिथ्यात्वादि भावों का मेरे स्वभाव

में अभाव ही है—ऐसी ज्ञायकस्वभाव की निःशङ्कता ही धर्म का साधन है। ज्ञायकस्वभाव की सन्मुखता हुई, वहाँ दूसरे साधन में व्यवहार साधन का उपचार आया परन्तु जहाँ ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख दृष्टि नहीं, वहाँ तो दूसरे साधन को व्यवहार साधन भी नहीं कहा जाता।

जीव को ऐसा लगना चाहिए कि अरे, मेरा क्या होगा ? मेरा हित कैसे होगा ? अनादि संसार में कहीं बाहर में शरण नहीं मिली, परभाव भी मुझे शरणरूप नहीं हुए; इसलिए अन्तर में मेरा शरण खोजूँ ! क्या इसी स्थिति में रहना है ? भाई ! अन्तर में तेरा शरण है, उसे पहचान ! तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावमय है, वही तुझे शरणरूप है। ऐसे आत्मा को लक्ष्य में लेने से तुझे अल्प काल में मोक्ष होने के सम्बन्ध में निःशङ्कता हो जायेगी।

समकिती धर्मात्मा ने अपने ध्रुवज्ञायकस्वभाव को जानकर उसकी शरण ली है, उस स्वभाव की शरण में उसे निःशङ्कता हो गयी है कि हमारे आत्मा को हमने अनुभव में लिया है और उसके ही आधार से अब अल्प काल में पूर्णानन्दरूप सिद्धदशा होगी।

चौथे गुणस्थान में समकिती को भी ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में ऐसी निःशङ्कता है; बन्धन करनेवाले मिथ्यात्वादि भाव मेरे स्वभाव में हैं ही नहीं—ऐसे भाव में धर्मी को बन्धन होने की शङ्का नहीं होती; इसलिए उसे शङ्काकृत बन्धन नहीं होता परन्तु निःशङ्कता के बल से पूर्व कर्म भी उसे निर्जरित हो जाते हैं। ऐसा सम्यग्दृष्टि का निःशङ्कता अङ्ग जानना। ●

२. सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित अङ्ग

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों की न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना॥२३०॥

मैं एक ज्ञायकभाव ही हूँ, ज्ञायकस्वभाव ही मेरा धर्म है; इसके अतिरिक्त बाहर के कोई धर्म मेरे नहीं हैं। कर्म और कर्मों के फल से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ-इसके अन्तरभान में धर्मी को किसी भी कर्म या कर्मफल के प्रति आकांक्षा नहीं है, उन सबको वह पुद्गलस्वभाव जानता है; और ज्ञायकस्वभाव से भिन्न सर्व धर्मों के प्रति कांक्षा से रहित है। इस प्रकार धर्मी जीव निःकांक्ष है; इसलिए उसे कांक्षाकृत बन्धन नहीं होता परन्तु पूर्वकर्म निर्जरित हो जाते हैं।

मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसी ज्ञाननिधि जिसने अपने पास देखी है, उसे पर की कांक्षा कैसे होगी? आनन्द से भरपूर चैतन्यरिद्धि के समक्ष जगत की किसी रिद्धि को ज्ञानी नहीं चाहता। क्योंकि—

सिद्धि-रिद्धि-वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा,
अन्तर की लक्ष्मी सों अजापी लक्षपती है;
दास भगवन्त के उदास रहे जगतसों,
सुखीया सदैव ऐसे जीव समकिती है।

समकिती जानता है कि अहो, मेरे आत्मा की सिद्धि, रिद्धि और वृद्धि सदा मेरे घट में-अन्तर में ही है; ऐसी अन्तर की चैतन्यलक्ष्मी के लक्ष्य द्वारा वह अयाचक लक्षपति है, बाहर की सिद्धि को चाहता नहीं; और वह जिनेन्द्र भगवान का दास है तथा जगत से उदास है—ऐसे समकिती जीव सदा सुखिया हैं। आहाहा!

जिसके पास इन्द्र का वैभव तो क्या! परन्तु तीन लोक की विभूति, वह भी वास्तव में 'भूतिसमान' / राख समान है, ऐसे चैतन्य की अचिन्त्य विभूति जिसने अपने अन्तर में देखी, वह जीव बाहर की विभूति की वाञ्छा कैसे करेगा?

चैतन्य की रिद्धि के समक्ष धर्मी को जगत की किसी रिद्धि की कांक्षा नहीं है। जहाँ जीवस्वभाव प्रतीति में आया, वहाँ कनक या पाषाण इत्यादि सर्व को अजीव का धर्म जानकर, धर्मी को उसकी कांक्षा नहीं होती। जगत में प्रशंसा हो या निन्दा हो, परन्तु उससे स्वयं का हित-अहित धर्मी नहीं मानता; इसलिए उसे उस सम्बन्धी कांक्षा नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की भावना में दूसरे परभावरूप अन्य धर्मों की आकांक्षा ज्ञानी को नहीं होती। इस प्रकार समकिती जीव, जगत में सर्वत्र निःकांक्ष है; इसलिए उसे पर की कांक्षाकृत बन्धन नहीं होता, परन्तु निःकांक्षा के कारण निर्जरा ही होती है।

अरे जीव! 'क्या इच्छत, खोवत सवै, है इच्छा दुःख मूल'

सुख तो तेरे चैतन्यस्वभाव में है, उस सुख को चूककर बाहर के पदार्थों में से सुख लेने की वाञ्छा तू क्यों करता है? अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की भावना छोड़कर पर की इच्छा, वह दुःख का मूल है। धर्मी को ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी की भावना नहीं है। धर्मी को अस्थिरताजन्य इच्छा होती है, उस इच्छा की उसे भावना नहीं है; उस इच्छा को अपने ज्ञायकस्वभाव से भिन्न जानता है, इसलिए ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में परमार्थ से उसे इच्छा का अभाव ही है। इस प्रकार इच्छा के अभाव के कारण उसे सर्वत्र निःकांक्षितपना ही है और उसे निर्जरा ही होती है—ऐसा सम्यग्दृष्टि का निःकांक्ष अङ्ग जानना। ●

३. सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अङ्ग

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना॥२३१॥

मैं एक वीतरागी ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा जहाँ अन्तर्वेदन हुआ, वहाँ धर्मी को जगत के किसी पदार्थ के स्वरूप के प्रति ग्लानि नहीं होती; पदार्थों का ऐसा ही स्वभाव है-ऐसा जानकर उनके प्रति धर्मी को दुर्गञ्छा (ग्लानि) नहीं होती। मैं तो शान्त ज्ञानस्वरूप ही हूँ - ऐसा ज्ञानवेदन में रहता हुआ, ग्लानि का अभाव होने से, धर्मी को निर्जरा ही होती है, बन्धन नहीं होता। किन्हीं रत्नत्रय धारक मुनिराज का शरीर मलिन-काला कुबड़ा हो तो वहाँ धर्मी को जुगुप्सा नहीं होती। वह जानता है कि अहो! आत्मा का स्वभाव तो रत्नत्रयमय पवित्र है और यह मलिनता तो शरीर का स्वभाव है, शरीर ऐसे स्वभाववाला है—इस प्रकार वस्तुस्वभाव को चिन्तवन करते हुए धर्मात्मा को जुगुप्सा-ग्लानि नहीं होती; इसलिए उसे ग्लानिकृत बन्धन नहीं होता।

मैं तो ज्ञान हूँ, मेरे ज्ञान में मलिनता नहीं है तथा मलिन वस्तु को जानने से ज्ञान कहीं मलिन नहीं हो जाता; मलिनता को जानते हुए धर्मात्मा को ऐसी शङ्का नहीं होती कि मेरा ज्ञान ही मलिन हो गया है; वह तो ज्ञान को पवित्ररूप ही अनुभव करता है, इसलिए उसे वास्तव में जुगुप्सा-ग्लानि नहीं होती।

शरीर में क्षुधा-तृषा हो, रोग हो, छेदन-भेदन और खून का प्रवाह चले, वहाँ धर्मी उसे जड़ की अवस्था जानता है। अरे! मैं तो

आत्मा हूँ, यह सब जड़ की अवस्था मुझसे भिन्न है—ऐसे सम्यग्ज्ञान में वर्तते धर्मात्मा को संयोगीदृष्टि छूट गयी है, इसलिए पदार्थ के स्वरूप के प्रति उसे द्वेष नहीं होता; अपनी अल्प सहनशक्ति से किसी समय अल्प अरुचिता का भाव हो जाता है, वह तो अस्थिरता मात्र का दोष है, परन्तु श्रद्धा का दोष नहीं। देह से भिन्न आत्मा के आनन्द का जिसने निर्णय किया होगा, उसे देह की दुर्गन्धित अवस्था के समय आत्मा की पवित्रता में शङ्का नहीं होती; देह मैं नहीं, मैं तो आनन्द हूँ—ऐसे आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की सुगन्ध (संस्कार) जिसने अपने में बैठाये होंगे, उसे देह की दुर्गन्ध आदि अवस्था के समय भी ज्ञान की एकताबुद्धि नहीं छूटेगी, अर्थात् ज्ञान की एकता से छूटकर उसे दुर्गञ्छा (ग्लानि) नहीं होती।

मेरे आत्मा की पवित्रता का पार नहीं, मेरा आत्मा तो पवित्रस्वरूप है और ये देहादि तो स्वभाव से ही अपवित्र हैं—ऐसा जाननेवाले धर्मात्मा को कहीं परद्रव्य में ग्लानि नहीं होती; इसलिए कैसे भी मलिन इत्यादि पदार्थों को देखकर भी, पवित्र ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से च्युत नहीं होते। जैसे दर्पण में कैसे भी मलिन पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़े, तो भी वहाँ दर्पण को उनके प्रति दुर्गञ्छा / ग्लानि नहीं होती; उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप स्वच्छ दर्पण में कैसे भी पदार्थ ज्ञात हों, तथापि दुर्गञ्छा-द्वेष करने का उसका स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को अनुभव करते हुए ज्ञानी को दुर्गञ्छा का अभाव होने से बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अङ्ग है। ●

४. सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टि अङ्ग

संमूढ़ नहिं सब भाव में जो, -सत्यदृष्टी धारता।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना॥२३२॥

जिसे आत्मा के ज्ञानस्वरूप की दृष्टि हुई है, वह धर्मात्मा अनेक प्रकार की विपरीत बातें सुनकर भी उलझता नहीं है। विपरीत युक्तियाँ सुनकर भी उसे अपने स्वरूप में उलझन या शङ्का नहीं होती। वस्तु का स्वरूप अनेक विद्वान भिन्न प्रकार से कहें, वहाँ समकिती धर्मात्मा को उलझन नहीं होती कि यह सत्य होगा या यह सत्य होगा! अनेक बड़े-बड़े विद्वान एकत्रित होकर विपरीत प्ररूपणा करे, तथापि वहाँ धर्मी शङ्कित नहीं हो जाता। ज्ञानानन्दस्वभाव की जो दृष्टि हुई है, उसमें नि:शङ्करूप से वर्तता है।

सर्व पदार्थ के स्वरूप को समकिती यथार्थ जानता है। शास्त्रों में पूर्व में हो गये तीर्थङ्कर इत्यादि का; दूरवर्ती असंख्य द्वीप-समुद्र-सूर्य-चन्द्र-मेरु और विदेहक्षेत्र का तथा सूक्ष्म परमाणु इत्यादि का वर्णन आता है, वहाँ धर्मी को शङ्का या उलझन नहीं होती कि यह कैसे होगा! मैं तो ज्ञायकभाव हूँ, ज्ञायकभाव में मोह है ही नहीं तो उलझन कैसी? वह निर्मोहरूप से अपने ज्ञानस्वरूप को अनुभव करता है। जैसे लौकिक में चतुराईवाले मनुष्य अनेक प्रकार के व्यवधानकारक प्रसङ्ग आ पड़ने पर उलझते नहीं परन्तु हल कर डालते हैं; इसी प्रकार धर्मात्मा अपने स्वभाव के पन्थ में उलझते नहीं; अनेक प्रकार की जगत् की कुयुक्तियाँ आ पड़ें, तो भी धर्मात्मा अपने आत्महित के कार्य में उलझते नहीं। चाहे जिस प्रकार से भी अपना आत्महित क्या है? - यह शोध लेते हैं। इस

प्रकार कहीं भी उन्हें उलझन नहीं होती। अस्थिरताजन्य जो उलझन होती है, वह कहीं श्रद्धा को दूषित नहीं करती, अर्थात् श्रद्धा के विषय में तो उन्हें उलझन का अभाव ही है। ऐसी श्रद्धा के जोर से धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है, बन्धन नहीं होता। सर्व भावों के प्रति कहीं भी उन्हें विपरीत दृष्टि नहीं होती, इसलिए धर्मी की दृष्टि में उलझन का अभाव है।

जैसे किसी साहूकार के पास लाखों-करोड़ों रुपये की पूँजी हो और कोई दूसरे लोग उसकी पैढ़ी पर लिख जाये कि 'इस व्यक्ति ने दिवाला निकाला', ऐसे अनेक लोग एकत्रित होकर कदाचित् प्रचार करें, तथापि वह साहूकार उलझन में नहीं आता; वह नि:शङ्क जानता है कि मेरी सब पूँजी मेरे पास सुरक्षित पड़ी है, लोग कुछ भी बोलें परन्तु मेरा हृदय और मेरी पूँजी तो मैं जानता है। इस प्रकार साहूकार को उलझन नहीं होती।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा नि:शङ्क जानता है कि मेरे चैतन्य की बुद्धि मेरे पास मेरे अन्तर में है; बाह्य दृष्टि लोग भले अनेक प्रकार से विपरीत कहें या निन्दा करें परन्तु धर्मी को अपने अन्तरस्वभाव की प्रतीति में उलझन नहीं होती; लोग भले चाहे जैसा बोलें परन्तु मेरी स्वभाव की प्रतीति का वेदन मैं जानता हूँ, मेरे स्वभाव की श्रद्धा नि:शङ्करूप से सुरक्षित पड़ी है। मेरा वेदन-मेरे चैतन्य की पूँजी-तो मैं जानता हूँ; इस प्रकार धर्मी जीव को अपने स्वरूप में कभी उलझन नहीं होती; इसलिए उसे मूढ़ताकृत बन्धन नहीं होता परन्तु निर्मोहता के कारण निर्जरा ही होती है - ऐसा सम्यग्दृष्टि का अमूढ़दृष्टि अङ्ग है। ●

५. सम्यग्दृष्टि का उपगूहन अङ्ग

मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ - ऐसे अन्तरस्वभाव के अनुभवपूर्वक जहाँ निःशङ्क प्रतीति हुई, वह समकिती निर्भयरूप से अपने स्वरूप को साधता है, उसे वहाँ सप्त प्रकार के भय नहीं होते और निःशङ्कता इत्यादि आठ प्रकार के गुण होते हैं। उन गुणों का यह वर्णन चल रहा है। समकिती के निःशङ्कता, निःकांक्षिता, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टि-इन चार अङ्गों का वर्णन हो गया है। अब इस गाथा में पाँचवाँ उपगूहन अङ्ग बतलाते हैं।

जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करें सब धर्म का।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३३॥

समकिती धर्मात्मा, सिद्धभक्तिसहित है। सिद्धभक्ति में अर्थात् सिद्ध समान अपने शुद्ध आत्मा में उपयोग को गोपन किया होने से (-जोड़ा होने से) धर्मी को 'उपगूहन' है और प्रतिक्षण उसकी आत्मशक्तियाँ बढ़ती होने से उसे 'उपबृंहण' भी है। मैं चिदानन्द-स्वभाव हूँ—ऐसे अन्तर में उपयोग को जोड़ा, वहाँ गुणों का उपबृंहण और रागादि विकार का उपगूहन हो गया। स्वभाव की शुद्धता प्रगट हुई, वहाँ दोषों का उपगूहन हो गया। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप के अवलम्बन से प्रतिक्षण धर्मात्मा को गुण की शुद्धता बढ़ती जाती है और दोष टलते जाते हैं, इसका नाम उपबृंहण अथवा उपगूहन है। धर्मी की दृष्टि में अल्प दोष की मुख्यता होकर स्वभाव ढंक जाए —ऐसा कभी नहीं होता। अल्प दोष हों, उन्हें जानता है परन्तु उससे ऐसी शङ्का नहीं करता कि मेरा सम्पूर्ण स्वभाव, मलिन हो गया। दृष्टि में ज्ञानानन्दस्वभाव की मुख्यता में धर्मी को अल्प दोष

की गौणता होने से उपगूहन अङ्ग वर्तता ही है और प्रतिक्षण उसकी आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है, इसलिए धर्मी को प्रतिक्षण निर्जरा होती जाती है।

धर्मी ने अपने शुद्ध चैतन्यमूर्तिस्वभाव में उपयोग जोड़ा है, उसका नाम परमार्थ से 'सिद्धभक्ति' है; जहाँ शुद्धस्वभाव पर दृष्टि है, वहाँ अल्प दोष पर दृष्टि ही नहीं; इसलिए उसे दोष का उपगूहन वर्तता है। चैतन्यस्वभाव को प्रसिद्ध करके दोष का उपगूहन कर डाला है; एक क्षण भी दोष की मुख्यता करके स्वभाव को चूक नहीं जाते; इसलिए उन्हें शुद्धता बढ़ती ही जाती है। ऐसा धर्मी का उपगूहन है; उन्हें प्रति समय मोक्षपर्याय के सम्मुख ही परिणमन हो रहा है। अहो! दृष्टि का ध्येय तो द्रव्य है और द्रव्य तो मुक्तस्वरूप है; इसलिए दृष्टि में धर्मी प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। वास्तव में मिथ्यात्व ही संसार है और सम्यक्त्व, वह मुक्ति है। धर्मी को अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है, उसकी ही भक्ति है और उसका फल मुक्ति है। पर्याय के अल्प दोष के प्रति आदर नहीं; इसलिए उसकी भक्ति नहीं; उस अल्प दोष को मुख्य करके स्वभाव की मुख्यता को भूल नहीं जाती - ऐसे धर्मात्मा को अशुद्धता घटती ही जाती है और शुद्धता बढ़ती ही जाती है; इसलिए उन्हें बन्धन नहीं होता परन्तु कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है; इसलिए वे अल्प काल में मुक्त हो जायेंगे।

धर्मी को भी जो राग है वह कहीं निर्जरा का कारण नहीं है, परन्तु अन्तर्मुख दृष्टि के परिणमन से प्रतिक्षण जो आत्मशुद्धि की वृद्धि होती है, वह ही निर्जरा का कारण है। किञ्चित् निर्बलता से राग होता है परन्तु उस राग के प्रति धर्मी की दृष्टि का जोर नहीं

है; धर्मी की दृष्टि का जोर तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति स्वभाव पर ही है; उस दृष्टि के जोर से शुद्धि की वृद्धि होकर कर्मों की निर्जरा ही होती जाती है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का उपबृंहण अथवा उपगूहन अङ्ग है। ●

मनुष्यभव हारकर चला जाता है

विषयों के लिए पागल होकर जिन्दगी गँवा दी और फिर मरण के समय तीव्र आर्तध्यान करता है, परन्तु उससे क्या प्राप्त हो सकता है? अरे रे! मरण के समय कदाचित् 'भगवान.... भगवान...' करे, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करे, परन्तु अन्तरङ्ग में सदा शरणभूत निज ज्ञायक भगवान को गुरुगम से पहचाना न हो, उसकी रुचि -प्रतीति-श्रद्धा नहीं की हो तो प्रभु-स्मरण का शुभराग भी कहाँ शरण दे सकता है?

भले ही करोड़ों रुपये इकट्ठे हुए हों, पचास-पचास लाख (आज के हिसाब से पाँच-दश करोड़) के राजमहल जैसे बँगले बनाये हों, पाँच-पाँच लाख (आज के हिसाब से पचास -पचास लाख) की कीमती मोटर गाड़ियाँ हों, नौकर-चाकर इत्यादि सब राजसी ठाट-बाट हों, परन्तु उससे क्या? यह सब वैभव छोड़कर मरण की पीड़ा से पीड़ित होकर यह अज्ञानी जीव, मनुष्यभव हारकर चला जाता है; पशु और नरकगति में परिभ्रमण करता है।

६. सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग

उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३४॥

धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि, अन्तरस्वभाव की श्रद्धा के बल से अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर रखता है; किसी भी प्रसङ्ग में भय से वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से गिरने नहीं देता। यद्यपि अस्थिरता के रागादि होते हैं, तथापि ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा के बल के कारण वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता, श्रद्धा के बल से स्वयं अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर रखता है-यही सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग है।

धर्मी को राग-द्वेष आदि के विकल्प तो आते हैं, परन्तु उसमें मोक्षमार्ग से विरुद्धता के विकल्प उन्हें नहीं आते, अर्थात् कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को पोषण करने का या रागादि से धर्म होता है-ऐसी मिथ्यामान्यतारूप उन्मार्ग को पोषण करने का विकल्प तो उन्हें आता ही नहीं; और दूसरे अस्थिरता के जो विकल्प आते हैं, उन विकल्पों को भी ज्ञायकस्वभाव में एकाकाररूप से स्वीकार नहीं करते, अपने ज्ञायकस्वभाव को विकल्प से पृथक् का पृथक् ही देखते हैं; इसलिए सम्यग्दर्शनरूप मार्ग में स्थितिकरण तो उन्हें सदा ही वर्तता ही है परन्तु अस्थिरता से ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग के प्रति किसी समय कदाचित् मन्द उत्साह हो जाये और वृत्ति डिग जाये तो अपने ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन की दृढ़ता से दृढ़रूप से अपने आत्मा को मार्ग में स्थिर करते हैं, अपने आत्मा को मार्ग

से भ्रष्ट नहीं होने देते-ऐसा धर्मी का स्थितिकरण अङ्ग है। ऐसे स्थितिकरण के कारण धर्मी का आत्मा मार्ग से च्युत नहीं होता; इसलिए मार्ग से च्युत होने के कारण से होनेवाला बन्ध उन्हें नहीं होता परन्तु सम्यक्मार्ग की आराधना द्वारा निर्जरा ही होती है।

धर्मात्मा अपने आत्मा को मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होते देता तथा दूसरे किसी साधर्मी को कदाचित् मोक्षमार्ग के प्रति निरुत्साही होकर डिगता देखे तो उसे उपदेश आदि द्वारा मोक्षमार्ग के प्रति उत्साहित करके दृढ़रूप से मार्ग में स्थिर करता है-ऐसा स्थितिकरण का शुभभाव भी धर्मी को सहज आ जाता है।

कोई ऐसा जरा-सा डिगने का विचार आ जाये, वहाँ धर्मी, शुद्धस्वभाव की दृष्टि से अपने आत्मा को फिर से मोक्षमार्ग में दृढ़रूप से स्थिर करता है; इस प्रकार अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करना, वह निश्चयस्थितिकरण है और व्यवहार से दूसरे आत्मा को भी मोक्षमार्ग से च्युत होने का प्रसङ्ग देखकर उसे उपदेश आदि द्वारा मोक्षमार्ग में स्थिर करने का शुभभाव, धर्मी को आता है, वह व्यवहारस्थितिकरण है।

'अहो! ऐसा महापवित्र जैनधर्म! ऐसा अपूर्व मोक्षमार्ग!! पूर्व में कभी नहीं आराधित ऐसा मोक्षमार्ग... उसे साधकर अब मोक्ष में जाने का अवसर आया है... तो उसमें प्रमाद या अनुत्साह कैसे होगा?' इस प्रकार अनेक प्रकार से मोक्षमार्ग की महिमा प्रसिद्ध करके समकिती अपने आत्मा को तथा दूसरे के आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थिर करता है। इसका नाम स्थितिकरण है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अङ्ग है। ●

७. सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अङ्ग

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का वत्सलत्व करे अहा।
चिन्मूर्ति वो वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३५॥

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मोक्षमार्ग के साधक होने से 'साधु' हैं; इन तीन साधु के प्रति अर्थात् रत्नत्रय के प्रति धर्मात्मा को परम प्रीतिरूप वात्सल्य होता है। व्यवहार में तो आचार्य-उपाध्याय और मुनि, इन तीन साधुओं के प्रति वात्सल्य होता है और निश्चय से अपने रत्नत्रयरूप तीन साधुओं के प्रति परम वात्सल्य होता है। यहाँ निर्जरा का अधिकार होने से निश्चय-अङ्गों की मुख्यता है; इसलिए आचार्यदेव ने निःशङ्कता आदि आठों अङ्गों का निश्चयस्वरूप बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयता के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों रत्नों को अपने से अभेदबुद्धि से सम्यक्रूप से देखता होने से मार्गवत्सल है, अर्थात् मोक्षमार्ग के प्रति अति प्रीतिवाला है; इसलिए उसे मार्ग की अनुपलब्धि से होनेवाला बन्ध नहीं, परन्तु रत्नत्रयमार्ग में अभिन्न बुद्धि के कारण निर्जरा ही है।

देखो, आठों अङ्गों के वर्णन में 'टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावमयता के कारण'... ऐसा कहकर आचार्यदेव ने विशेष विशिष्टता की है। सम्यग्दृष्टि सदा ही 'टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक-स्वभावमय' है; इसलिए उसे शङ्का-काँक्षा आदि दोष नहीं होते और इसीलिए उसे निःशङ्कता आदि आठ गुण होते हैं और उनसे

उसे निर्जरा होती है। इस प्रकार 'टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक—स्वभावमयता' वह मूलवस्तु है। उसके ही अवलम्बन से ये निःशङ्कता आदि आठों गुण टिके हुए हैं और उसके ही अवलम्बन से निर्जरा होती है। धर्मी की दृष्टि में से उस स्वभाव का अवलम्बन कभी एक क्षणमात्र भी हटता नहीं है।

यहाँ वात्सल्य के वर्णन में भी आचार्यदेव ने अद्भुत बात की है। समकिती को रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य होता है; क्यों? तो कहते हैं कि रत्नत्रय को स्वयं से अभेदबुद्धि से देखता होने से उसके प्रति उसे परमवात्सल्य होता है। देखो! इस वात्सल्य में राग की या विकल्प की बात नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो मेरा स्वभाव ही है - ऐसे रत्नत्रय को अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से अनुभवना-उनसे जरा भी भेद नहीं रखना, यही उनके प्रति परमवात्सल्य है। जिस चीज को अपनी मानें, उसके प्रति प्रेम होता है। जैसे गाय को अपने बछड़े के प्रति अतिशय प्रेम होता है; इसी प्रकार धर्मी जानता है कि यह रत्नत्रय तो मेरे घर की-मेरे स्वभाव की चीज है; इसलिए उसे रत्नत्रय के प्रति अतिशय प्रेम होता है; उससे अपनी किञ्चित् भी भिन्नता वह नहीं देखता।

'श्रद्धा' को एकपना ही रुचता है, उसे भेद या अपूर्णता रुचते ही नहीं। सम्यक्श्रद्धा द्वारा धर्मात्मा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने आत्मा के साथ अभेदबुद्धि से देखता है; रागादि के साथ उसे स्वयं की एकता भासित ही नहीं होती। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में धर्मात्मा, रत्नत्रय को अपने साथ अभेदबुद्धि से देखता होने से, उस रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग के प्रति वह अत्यन्त प्रीतिवाला है, मोक्षमार्ग की ओर उसे परमवात्सल्य होता है और रागादि

विकल्प के प्रति उसे प्रेम नहीं होता। वह विभावों को तो अपने से भिन्न जानता है। रत्नत्रयधर्म को अपने घर की चीज़ जानकर उसमें एकत्वबुद्धिरूप परम प्रेम-यही वीतरागी वात्सल्य है।

देखो, यह धर्मी का वात्सल्य अङ्ग! धर्मी को अपने आत्मा में ही रति-प्रीति है। गाथा २०६ में कहा था कि

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥

हे भव्य! तू इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही नित्य प्रीति कर, इसमें ही नित्य सन्तुष्ट हो और इससे ही तृप्त हो; —तुझे उत्तम सुख का अनुभव होगा।

अहो! जिसे आत्मा का हित करना हो-वास्तविक सुख चाहिए हो, उसे आत्मा का परम प्रेम करनेयोग्य है। श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि 'जगत् इष्ट नहीं आत्म से'—अर्थात् जो धर्मी है अथवा धर्म का वास्तविक जिज्ञासु है, उसे जगत् की अपेक्षा आत्मा प्रिय है, आत्मा की अपेक्षा जगत में उसे कोई प्रिय नहीं है।

देखो, गाय को अपने बछड़े के प्रति कैसा प्रेम होता है! और बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है! इसी प्रकार धर्मी को अपने रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेदबुद्धि से वात्सल्य होता है। इसमें राग की बात नहीं परन्तु रत्नत्रय में ही अभेदबुद्धि है, यही परम वात्सल्य है और अपने रत्नत्रय में परम वात्सल्य होने से बाहर में दूसरे जिन-जिन जीवों में रत्नत्रयधर्म देखता है, उनके प्रति भी वात्सल्य का उफान आये बिना नहीं रहता; दूसरे धर्मात्मा के प्रति साधर्मी के अन्तर में वात्सल्य का झरना प्रवाहित होता है, वह व्यवहार वात्सल्य है।

धर्मात्मा को जगत में अपना रत्नत्रयस्वरूप आत्मा ही परमप्रिय है; संसार सम्बन्धी दूसरा कोई प्रिय नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को धर्मी जीव अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से देखता है; इसलिए उसे मोक्षमार्ग का अत्यन्त प्रेम है और निमित्तरूप से मोक्षमार्ग के साधक सन्तों के प्रति उसे परम आदर होता है तथा उसे मोक्षमार्ग दर्शानेवाले सर्वज्ञ भगवान और वीतरागी शास्त्रों के प्रति भी प्रेम आता है। कुदेव-कुगुरु-कुधर्म के प्रति या मिथ्यात्वादि परभावों के प्रति धर्मी को स्वप्न में भी प्रेम नहीं आता। इस प्रकार अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से ही मार्ग को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग को) देखता होने से धर्मात्मा को मार्ग की अप्राप्ति के कारण होनेवाला बन्धन नहीं होता परन्तु मार्ग की उपासना के द्वारा निर्जरा ही होती है। मार्ग को तो अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से ही देखता है; इसलिए उसे मार्ग के प्रति परम वात्सल्य है।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय के प्रति जिसे अभेदबुद्धि होती है, उसे ही मोक्षमार्ग के प्रति वास्तविक वात्सल्य है; जिसे रत्नत्रय के प्रति जरा भी भेदबुद्धि है, अर्थात् रत्नत्रय को अभेद आत्मा के आश्रय से ही न मानकर, राग के अथवा पर के आश्रय से रत्नत्रय की प्राप्ति होना जो मानता है, उसे वास्तव में रत्नत्रय के प्रति वात्सल्य नहीं है परन्तु उसे तो राग के प्रति और पर के प्रति वात्सल्य है। धर्मी-सम्यग्दृष्टि तो अपने से रत्नत्रय को अभेदबुद्धि से देखता होने से, अर्थात् पर के आश्रय से किञ्चित् भी नहीं देखता होने से, उसे रत्नत्रय के प्रति परम वात्सल्य होता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य अङ्ग है। ●

८. सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अङ्ग

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ घूमता।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना॥२३६॥

सम्यग्दृष्टि, टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमयता के कारण ज्ञान की समस्त शक्ति को विकासने द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता होने से प्रभावना करनेवाला है।

देखो, यह जिनमार्ग की प्रभावना!

चैतयिता, अर्थात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, विद्यारूपी रथ में आरूढ़ हुआ है, अर्थात् अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ़ हुआ है। उसने अपने ज्ञानस्वभावरूपी रथ का ही अवलम्बन लिया है... और उस ज्ञानरथ में आरूढ़ होकर मनरूपी रथ-पंथ में, अर्थात् ज्ञानमार्ग में ही भ्रमण करता है। इस प्रकार स्वभावरूपी रथ में बैठकर ज्ञानमार्ग में प्रयाण करता हुआ, ज्ञानस्वरूप में परिणमता हुआ, सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करता है। अन्तर में ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता द्वारा धर्मी को ज्ञान का विकास ही होता जाता है, यही भगवान के मार्ग की वास्तविक प्रभावना है।

इसके अतिरिक्त हीराजड़ित सोना-चाँदी के रथ, कि जिसे उत्तम हाथी, घोड़ा इत्यादि जोड़ें हों, उसमें जिनेन्द्र भगवान को या भगवान के कथित परमागम को विराजमान करके, रथयात्रा द्वारा जगत् में उनकी महिमा प्रसिद्ध करना, वह व्यवहार प्रभावना है। अहो! इन जिनेश्वर भगवान ने हमें मुक्ति का वीतरागमार्ग बतलाया! —ऐसे भगवान के मार्ग के प्रति अतिशय बहुमान होने से उनकी महिमा जगत में कैसे बढ़े—ऐसा व्यवहार प्रभावना का भाव, धर्मी

को आता है, परन्तु जिसने अन्तर में भगवान का और भगवान के कहे हुए ज्ञानमार्ग का वास्तविकस्वरूप पहचाना हो, अर्थात् ज्ञानस्वभावरूपी रथ में आरूढ़ होकर अपने में ज्ञानमार्ग की निश्चय-प्रभावना की हो, उसे ही सच्ची व्यवहारप्रभावना होती है।

आत्मा चैतन्यस्वरूपी है, उसे अनुभव में लेकर सम्यग्दृष्टि जीव, चैतन्यविद्यारूपी रथ में आरूढ़ होकर ज्ञानमार्ग में परिणमित होता है; इस प्रकार वह धर्मात्मा, जिनेश्वरदेव के ज्ञान की प्रभावना करनेवाला है। देखो, यह धर्मी की प्रभावना! 'प्र... भावना' अर्थात् चैतन्यस्वरूप की विशेष भावना कर-करके धर्मी जीव अपनी ज्ञानशक्ति का विस्तार करता है, यही प्रभावना है। ज्ञान की विशेष परिणतिरूप प्रभावना द्वारा धर्मी को निर्जरा ही होती जाती है। अपने ज्ञानस्वरूप की विशेष भावना ही जिनमार्ग की वास्तविक प्रभावना है।

जैसे जिनेन्द्र भगवान के वीतरागबिम्ब को रथ इत्यादि में स्थापित करके बहुमानपूर्वक नगर में फिराया जाता है—इस प्रकार का शुभभाव वह व्यवहारप्रभावना है क्योंकि इस प्रकार भगवान की रथयात्रा इत्यादि देखकर लोगों को जैनधर्म की महिमा आती है और इस प्रकार जैनधर्म की प्रभावना होती है। शुभराग के समय ऐसा प्रभावना का भाव भी धर्मी को आता है। अहो, ऐसा वीतरागी जैनमार्ग! वह लोक में प्रसिद्ध हो और लोग उसकी महिमा जाने—ऐसा भाव धर्मात्मा को आता है और निश्चय से ज्ञान को अन्तर के चैतन्यरथ में जोड़कर स्वभाव की विशेष भावना द्वारा अपने ज्ञान की प्रभावना करता है। 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा जो अनुभव हुआ है, उसमें बारम्बार उपयोग को झुकाता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मा को

जिनमार्ग में आगे बढ़ाता है, यह निश्चय से प्रभावना है। मिथ्यात्व के कुमार्ग से परान्मुख करके चैतन्य रथ में आत्मा को बैठाना और इस प्रकार चैतन्य रथ में बैठाकर आत्मा को जिनमार्ग / मोक्षमार्ग में ले जाना, वह धर्म की वास्तविक प्रभावना है; ऐसी प्रभावना से धर्मी को प्रतिक्षण निर्जरा होती जाती है और अप्रभावनाकृत बन्धन उसे नहीं होता। ऐसा सम्यग्दृष्टि का प्रभावना अङ्ग है।

★ ★ ★

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को अपने चैतन्यस्वरूप सम्बन्धी निःशङ्कता, चैतन्य से भिन्न परद्रव्यों के प्रति निःकाँक्षा इत्यादि ये अङ्ग होते हैं, वह बतलाया। ये आठ अङ्ग, आत्मस्वरूप के आश्रित हैं; इसलिए वे निश्चय हैं; और शुभरागरूप जो निःशङ्कता आदि आठ अङ्ग हैं, वे पर के आश्रित होने से व्यवहार है। यहाँ तो निर्जरा अधिकार है; इसलिए निर्जरा के कारणरूप निश्चय आठ अङ्गों का वर्णन आचार्यदेव ने आठ गाथाओं द्वारा किया है। इन आठ अङ्गोंरूपी तेजस्वी किरणों से जगमगाते सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य का प्रताप सर्व कर्मों को भस्म कर डालता है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, इन निःशङ्कता आदि आठ गुणों से परिपूर्ण ऐसे सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शन चक्र द्वारा समस्त कर्मों को घातकर मोक्ष को साधता है।

अहो! निःशङ्कतादि आदि अङ्गरूपी दिव्य किरणों द्वारा ज्वाजल्यमान सम्यग्दर्शनरूपी सूर्य अपने दिव्य प्रताप द्वारा आठ कर्मों को भस्म करके आत्मा को अष्ट महागुणसहित सिद्धपद प्राप्त कराता है।

—ऐसे सम्यक्त्वसूर्य का महान उदय जयवन्त वर्तो। ●

वेदन

चैतन्यसन्मुखता से धर्मात्मा को जहाँ परम अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ, वहाँ अपने वेदन से ज्ञात हुआ कि मेरे इस आनन्द के वेदन में राग का अवलम्बन नहीं था अथवा किसी पर का आश्रय नहीं था, अपने आत्मा का ही आश्रय था। ज्ञानी के निकट श्रवण और मनन से पूर्वकाल में जो जाना था, वह अब अपने वेदन से जाना।

सुख का धाम

सन्त कहते हैं कि—

संसार को भूलकर अपनी अतीन्द्रिय चैतन्य-गुफा में उतर, तो वहाँ अकेला सुख ही भरा है। तेरा स्वरूप सुख का ही धाम है।

धुन

मेरा आत्मा ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है—ऐसा निर्णय करने की धुन जिसे लगी है, उसके प्रयत्न का मोड़ स्वसन्मुख होता है; राग की ओर उसका झुकाव नहीं होता, उसकी परिणति राग से विमुख होकर अन्तरोन्मुख होती है।

***

अरे जीव! तू प्रमोद कर... उल्लास कर.. कि आत्मा स्वयं स्वयमेव सुखमय है। अपने सुख के लिए उसे जगत के किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। स्वोन्मुख होने से आत्मा स्वयं अपने अतीन्द्रिय आनन्द में मगन होकर मोक्षसुख का सुधापान करता है।

सम्यग्दृष्टि की उज्ज्वल परिणति

सम्यग्दृष्टि निःशंक और निर्भय होता है

सम्यग्दृष्टि के परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलता को वे ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा हैं। अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा क्या जानेगा? ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर जिसकी परिणति झुकी है, ऐसे सम्यग्दृष्टि निःशंक और निर्भय होते हैं। उनका ऐसा अद्भुत पराक्रम होता है कि चाहे जैसी परिस्थिति में भी वे निजस्वरूप से च्युत नहीं होते। उन्हें इस लोक का या परलोक का, वेदना का या अरक्षा का, अगुप्ति का, मरण का या अकस्मात् का-यह कोई भय उन्हें नहीं होता। अपने ज्ञानस्वरूप में ही निःशंक और निर्भयरूप से वर्तते हुए उन सम्यक्त्वी के पूर्व कर्मों की निर्जरा हो जाती है। सम्यक्त्वी की ऐसी उज्ज्वल अन्तरपरिणति का वर्णन समयसार में किया है; उसी का विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

अन्तर्मुख होकर जहाँ ज्ञानस्वभावी आत्मा की प्रतीति हुई, वहाँ धर्मी ने अपने आत्मा को पर से भिन्न जाना और रागादि से भी आत्मस्वरूप की भिन्नता जान ली। अब वह अन्तर्मुख ज्ञानस्वभाव की दृष्टि से ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है, राग में तन्मयता से परिणमित नहीं होता। कोई संयोग उस ज्ञानी को अज्ञानरूप परिणमित नहीं कर सकते। ज्ञानी को ज्ञानभाव में बन्धन होने की शंका उठती ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानभाव में निःशंकता से वर्तता हुआ ज्ञानी, कर्मों से बँधता नहीं है, किन्तु उसके कर्मों की निर्जरा होती है।

अहो, ज्ञानी की अन्तरपरिणति अद्भुत है। ज्ञानी के अन्तर के ज्ञानपरिणाम राग से भी पार हैं अर्थात् परमार्थ से ज्ञानी, राग के कर्ता नहीं हैं; ज्ञानी तो ज्ञानपरिणाम के ही कर्ता हैं। अज्ञानी को मात्र राग ही दिखाई देता है, इसलिए ज्ञानी को भी वह उस दृष्टि से देखता है कि 'यह ज्ञानी राग करते हैं, यह ज्ञानी हर्ष करते हैं'— किन्तु उस समय उस राग और हर्ष से पार ज्ञानी की परिणति वर्तती है, उसे वह अज्ञानी नहीं देखता। ज्ञानी की परिणति राग से भिन्न है। जिसे अपने राग से भिन्न ज्ञानभाव का वेदन नहीं है, वह जीव, ज्ञानी की रागातीत ज्ञानपरिणति को कैसे जान सकेगा? अन्तरात्मा की गति को बहिरात्मा कैसे जानेगा? ज्ञानी के परिणाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसहित उज्ज्वल हैं, उस उज्ज्वलता को वे ही जानते हैं। मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलता को यथार्थ नहीं जानते। जो जीव ज्ञानी की अन्तर्गत परिणति को यथार्थरूप से जानता है, उसे अपने में ज्ञानस्वभाव और परभाव का भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

सम्यग्दृष्टि का परम साहस

सम्यग्दृष्टि के परिणाम में ऐसा अद्भुत पराक्रम होता है कि चाहे जैसा घोर उपसर्ग आने पर भी वे अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा से च्युत नहीं होते, निःशंकरूप से अपने ज्ञानभाव में परिणमन करते हैं। सम्यग्दृष्टि ही ऐसा परम साहस करने में समर्थ हैं-यह बात आचार्यदेव निम्नोक्त कलश में कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।

सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि॥१५४॥

देखो, यह धर्मी जीव का अन्तरंग पराक्रम! मात्र सम्यग्दृष्टि ही ऐसा परम साहस करने में समर्थ है कि जिसके भय से तीन लोक भयभीत होकर अपना मार्ग छोड़ दें - ऐसा वज्रपात हो, तथापि सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होते। 'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा ज्ञानशरीर अवध्य है, जगत में कोई उसका वध करने में समर्थ नहीं है'—ऐसा निःशंकता और निर्भयता से जानते हुए धर्मात्मा अपने ज्ञान-श्रद्धान से नहीं डिगते।

कदाचित् कोई देव आकर ऐसा कहे तेरी मान्यता मिथ्या है, इसलिए यह मान्यता छोड़ दे, नहीं तो मैं तेरे प्राण हर लूँगा, तो वहाँ भी ज्ञानी-धर्मात्मा अपने ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा नहीं छोड़ते, ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होते। स्वरूप में निःशंकता है; इसलिए उन्हें निर्भयता है। मैं तो ज्ञानशरीरी हूँ, यह जड़ शरीर मेरा है ही नहीं और मेरे ज्ञानशरीर का घात करने में कोई इस जगत में समर्थ नहीं है। कदाचित् वज्रपात हो और तीन लोक के जीव भय से काँप उठें, तथापि वहाँ धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा से नहीं डिगते। जगत के साधारण जीव तो भय से विचलित होकर मार्ग छोड़ देते हैं, किन्तु सम्यक्त्वी धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा में निःशंकता से वर्तते हैं, इसलिए वे निर्भय हैं, वे अपने मार्ग से च्युत नहीं होते—ऐसे सम्यक्त्वी धर्मात्मा को निर्जरा होती है।

सम्यक्त्वी निःशंकित होने से सर्वत्र निर्भय हैं, यह बात अब गाथा में कहते हैं—

निःशंक हों सद्दृष्टि बस इसलिए ही निर्भय रहें।
वे सप्त भय से मुक्त हैं इसलिए ही निःशंक हैं॥२२८॥

देखो, यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दशा! सम्यक्त्वी जीव अत्यन्त निःशंक और निर्भय होते हैं। क्यों?—क्योंकि वे ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त समस्त कर्मों के फल की अभिलाषा-रहित होने से कर्मों के प्रति अत्यन्त निरपेक्षता से वर्तते हैं। रागादि हों, उनकी भी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह राग मुझे कुछ लाभ देगा—ऐसी किंचित् बुद्धि नहीं है; मैं तो राग से पार ज्ञानस्वरूप ही हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा है ही नहीं—इस प्रकार अत्यन्त निःशंकतारूप निश्चयवाले होने से सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निर्भय हैं। पीछे से सिंह आ रहा हो तो वहाँ किंचित् भयभीत होकर सम्यक्त्वी भी दौड़ने लगते हैं, तथापि उस समय भी, आचार्यदेव कहते हैं कि वे सम्यक्त्वी निर्भय हैं, क्योंकि यह सिंह मुझे अपने स्वरूप से डिगा देगा—ऐसा भय उन्हें नहीं होता; इसलिए वे निर्भय हैं।

ज्ञानी को कभी ऐसा भय नहीं होता, जो ज्ञानस्वरूप में शंका उत्पन्न करे। 'मैं ज्ञातास्वरूप हूँ'—ऐसी प्रतीति में धर्मी को कभी शंका नहीं होती और ज्ञान से भिन्न किसी परभाव की उसे अपेक्षा नहीं है। स्वरूप में निःशंक और परभावों से अत्यन्त निरपेक्ष होने के कारण धर्मात्मा अत्यन्त निर्भय हैं। किंचित् रागादि हों या प्रतिकूलता आ जाये तो वहाँ 'यह राग या प्रतिकूलता मेरे ज्ञानस्वरूप का नाश कर देंगे'—ऐसा भय या सन्देह ज्ञानी को नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी अत्यन्त निःशंक और निर्भय होते हैं।

अहा! मैं तो ज्ञानभाव ही हूँ, ज्ञान से भिन्न अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है, शुभ-अशुभ कर्मों के उदयकाल में ही मैं तो

ज्ञानभावरूप से ही परिणमित होनेवाला हूँ, समस्त कर्मों के फल से मैं अत्यन्त भिन्न हूँ—ऐसा जहाँ अनुभव हुआ, वहाँ धर्मी को सन्देह या भय कहाँ से होगा ? मैंने अपना जो ज्ञानस्वरूप प्रतीति में लिया है, वह कभी अन्यथा नहीं होता। जगत में किसी संयोग की ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि मेरे ज्ञानस्वरूप को अन्यथा कर सके। ऐसी स्वभाव की निःशंकता के कारण सम्यग्दृष्टि निर्भय होता है।

अब, सम्यक्त्वी को सात भय नहीं होते-यह बात आचार्यदेव छह कलशों द्वारा अद्‌भुत रीति से समझाते हैं।

[१-२]

अन्तर में चित्स्वरूप लोक का निःशंकरूप से अवलोकन करनेवाले ज्ञानी को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता

ज्ञानी धर्मात्मा को अपने स्वरूप की निःशंकता के कारण इहलोक तथा परलोक का भय नहीं है, यह बात आचार्यदेव १५५ वें श्लोक में कहते हैं:—

*(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्‌भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५५॥

* सम्यक्त्वी को सात भयों का अभाव दर्शानेवाले यह १५४ से १६० तक के सात कलश अति सुन्दर भावपूर्ण होने से मुखाग्र करने योग्य हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अन्तर्दृष्टि से स्वयमेव मात्र अपने चैतन्यस्वरूप लोक का अवलोकन करता है, बाह्यलोक से भिन्न चैतन्यस्वरूप से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है; इसलिए वह ज्ञानी जानता है कि यह चैतन्यस्वरूप लोक ही मेरे आत्मा का लोक है, उससे भिन्न अन्य कोई-इहलोक या परलोक-मेरा नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी तो निरन्तर निःशंकतापूर्वक अपने आत्मा को सहज ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करता है, वहाँ उसे इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय कहाँ से होगा?

जगत में समस्त परवस्तुएँ इस आत्मा से भिन्न हैं, लोक की कोई वस्तु आत्मा की नहीं है। आत्मा अनन्त चैतन्यशक्ति से परिपूर्ण है। यह जो चैतन्यस्वरूपी लोक है, वही आत्मा का लोक है। आत्मा का यह चैतन्यस्वरूप लोक सदैव आत्मा के साथ ही शाश्वत रहता है। आत्मा स्वयं अन्तर्मुख होकर अकेला ही मन-वाणी-देहादि की सहायता के बिना ही अपने अन्तर में अवलोकन करता है; इसलिए स्वयं ही अपना लोक है और आत्मा का चैतन्यस्वरूप सदा व्यक्त है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही अपना लोक जानने के कारण धर्मात्मा को लोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

अहो! मैं तो ज्ञायक ही हूँ, ज्ञानस्वरूप में ही मेरा सर्वस्व है; ज्ञानस्वरूप से बाह्य मेरा कोई है ही नहीं—ऐसा धर्मी जानता है; इसलिए 'इस देहादि सामग्री का क्या होगा?' ऐसा भय धर्मात्मा को नहीं होता।

मैं अपने अन्तर की अन्तरंग सामग्री से परिपूर्ण हूँ, बाह्य सामग्री मेरी नहीं है—ऐसे अनुभव की निःशंकता में धर्मात्मा को

इहलोक या परलोक का भय नहीं होता। 'इस जगत में मेरा कौन है ? परभव में मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ?' ऐसा सन्देह या भय धर्मात्मा को नहीं होता। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, तथा परभव में भी मैं ज्ञानस्वरूप ही रहूँगा; ज्ञानस्वरूप ही मेरा परलोक (उत्कृष्ट वस्तु) है। ऐसी ज्ञानस्वरूप की नि:शंकता में धर्मी को दूसरी शंका नहीं होती और शंका न होने से भय भी नहीं होता।

'हे आत्मन्! यह चैतन्यस्वरूप लोक ही तेरा है, इससे भिन्न कोई लोक—इहलोक या परलोक तेरा नहीं है'—ऐसा ज्ञानी विचार करता है और नि:शंकरूप से वर्तता हुआ सदा अपने सहज ज्ञान का अनुभव करता है। ऐसे अनुभव में धर्मात्मा को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

देखो, लोक में राजपद आदि में तो पुण्य की आवश्यकता है, उसमें कहीं गुण की अपेक्षा नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव भी किसी विशेष पुण्य के उदय से राजा होता है; वहाँ कोई विरोध करे कि बस, हमें मिथ्यादृष्टि राजा नहीं चाहिए, तो उस विरोधी को कषाय का अभिप्राय है, उसे पुण्य का विवेक नहीं है। पुण्य के अनुसार मिथ्यादृष्टि माता-पिता मिलें और कोई विरोध करे कि मैं मिथ्यादृष्टियों को माता-पिता रूप में स्वीकार नहीं करूँगा तो उसके विचार में विवेक नहीं है। भाई! लोक में ऐसा माप नहीं किया जाता। और धर्म में कोई कहे कि 'हमारे गुरु बहुत पुण्यवान हैं'—इस प्रकार मात्र पुण्य से गुरुपद की प्रतीति करे तो सचमुच उसने गुरुपद को जाना ही नहीं। धर्म और पुण्य दोनों वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं। लोक में तो वही बड़ा माना जाता है जो पुण्य से बड़ा हो।

यहाँ तो कहते हैं कि धर्मात्मा को अपने चैतन्यस्वरूप के

अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं है। मेरे चैतन्यस्वरूप उत्तम लोक को बिगाड़ने के लिये इस जगत में कोई समर्थ नहीं है—इस प्रकार धर्मी जीव दुनियां की परवाह छोड़कर आत्मा के अन्तरस्वरूप में ढलता है। अन्तरस्वरूप के अनुभव में इहलोक की या परलोक की चिन्ता कैसी ? अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से ज्ञानी सम्यक्त्वी धर्मात्मा निरन्तर नि:शंक और निर्भय है।

इसलोक या परलोक में मुझे सदैव अपने चैतन्यस्वरूप का ही साथ है, अन्य किसी का साथ नहीं है, राग का भी साथ नहीं है—ऐसी नि:शंक प्रतीति के कारण धर्मात्मा को कभी इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता। जिसे चैतन्यस्वरूप की नि:शंकता नहीं है, उसी को भय तथा बन्धन होता है। धर्मात्मा को चैतन्यस्वरूप की निर्भयता के कारण लोक-सम्बन्धी भय नहीं है, इसलिए उसे निर्जरा ही होती जाती है किन्तु बन्धन नहीं होता।

अहा! एक बार इस बात का निर्णय तो करो! यह अन्तरंग की बात है, मात्र बाह्य वैराग्य की यह बात नहीं है। अन्तर में जहाँ जगत से भिन्न चैतन्यस्वरूप का अनुभव किया है, वहाँ जगत में कहीं परद्रव्य या परभाव के साथ एकताबुद्धि होती ही नहीं; ज्ञान में ही एकतारूप परिणमन रहता है, इसलिए वहाँ पर सम्बन्धी भय नहीं होता। कर्म का उदय आकर मेरे चैतन्यस्वरूप को बिगाड़ देगा — ऐसा भय भी धर्मात्मा को नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि निर्भय है।

[३]

ज्ञानी निर्भयता से ज्ञान का ही वेदन करता है; अन्य किसी वेदना का भय ज्ञानी को नहीं है।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को वेदना-भय भी नहीं होता, ऐसा अब कहते हैं—

एषैकेव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलेः।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ?
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदंति॥१५६॥

जिनके अन्तर में आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वसंवेदन हुआ है—ऐसे सम्यग्दृष्टि ज्ञानी-धर्मात्मा जानते हैं कि मेरा आत्मा वेदक होकर अपने ज्ञान-आनन्द के निराकुल स्वाद का ही वेदन करनेवाला है; अपने ज्ञान-आनन्द से भिन्न अन्य कोई वेदन मुझमें नहीं है। मेरे ज्ञान-आनन्द के वेदन में आकुलता के वेदन का भी अभाव है, तो फिर पुद्गलजन्य रोगादि वेदना की बात ही कहाँ रही ?—इस प्रकार निःशंकतापूर्वक अपने सहज अनाकुल ज्ञान का ही निरन्तर वेदन होने से ज्ञानी को अन्य किसी वेदना का भय नहीं होता।

देखो, आजकल (वीर संवत् २४८३ में) इन्फ्ल्यूएंजा रोग बहुत फैला है और लोग चारों ओर भयभीत हो गये हैं; किन्तु धर्मी जानता है कि - इस रोग की वेदना तो शरीर में है, यह जड़ शरीर ही जब मेरा नहीं है तो फिर मुझे रोग की वेदना कैसी ? मैं तो अपने ज्ञान का ही वेदन करता हूँ। ज्ञान ही मेरा शरीर है। मेरे ज्ञान-शरीर

में इन्फ्ल्यूएन्जा आदि रोगों का प्रवेश ही नहीं है तो मुझे वेदना का भय कहाँ से होगा?

वेद्य-वेदक दोनों अभेद होते हैं, अर्थात् आत्मा वेदक होकर अपने भाव का वेदन करता है किन्तु शरीर का वेदन नहीं करता। अपने से भिन्न वस्तु की वेदना मुझे क्यों होगी? धर्मी का आत्मा तो अपने से अभिन्न ऐसे ज्ञान का ही वेदन करता है; उस ज्ञान-वेदन में किसी बाह्य वेदना का प्रवेश ही नहीं है तो फिर ज्ञानी को वेदना का भय क्यों होगा? इस देह का छेदन-भेदन हो, इसमें रोग हो या बिच्छू काटें - उसकी वेदना का वेदन धर्मी को नहीं है; निर्बलता के कारण किंचित् अरुचि या द्वेष हो जाये, तथापि उस द्वेष का अपने ज्ञानस्वरूप के साथ एकरूप वेदन नहीं करते; द्वेष से भिन्न ज्ञानस्वभाव का ही अपने में एकत्वरूप से वेदन करते हैं; इसलिए ज्ञानवेदन में ही निःशंकता से वर्तते हुए धर्मात्मा को अन्य किसी बाह्य वेदना का भय नहीं होता।

'वेदना में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की वेदना लेना चाहिए। जिस प्रकार चाहे जैसी प्रतिकूलता की वेदना में भी धर्मात्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा नहीं छोड़ते, उसी प्रकार चाहे जैसी अनुकूलता हो, तथापि धर्मात्मा उसकी वेदना में-संयोग के उपभोग में-सुखबुद्धि से एकाग्र होकर अपने स्वरूप की श्रद्धा को कभी नहीं छोड़ते। हर्ष-शोकरूप विकार का जो क्षणिक वेदन है, उससे भी भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप को जाना है और आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अंश का वेदन हुआ है, वहाँ बाह्य रोगादि की वेदना का भय धर्मात्मा को नहीं होता। हम तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करनेवाले हैं। हर्ष-शोक का वेदन हो, वह

वास्तव में हमारा वेदन नहीं है, उस विकारी वेदना का मेरे ज्ञानस्वरूप में प्रवेश नहीं है; और बाह्य में जो रोगादि होते हैं, वे तो मुझसे बाहर ही हैं, उनकी वेदना मुझे नहीं है—ऐसे भेदज्ञान में धर्मात्मा को कभी वेदना का भय नहीं होता।

जिसमें जो भरा हो, उसमें उसी का वेदन होता है। धर्मी जानता है कि मेरे आत्मा में तो आनन्द और शान्ति ही भरे हैं, इसलिए आत्मसन्मुख दृष्टि में मुझे आनन्द और शान्ति का वेदन है। ऐसा जानते हुए धर्मात्मा क्षणिक हर्ष-शोक के वेदन में एकाकार नहीं होते। मेरे ज्ञान में अन्य किसी वस्तु का प्रवेश ही नहीं है तो उसका वेदन मुझे क्यों होगा ? अज्ञानी तो हर्ष-शोक के क्षणिक वेदन में ऐसा एकाकार हो जाता है कि ज्ञान-आनन्दस्वरूप को बिल्कुल भूल ही जाता है, हर्ष-शोक से भिन्न कोई वेदन उसे भासित ही नहीं होता; इसलिए हर्ष-शोक के ही वेदन में एकाकाररूप से वर्तता हुआ वह कर्मों से बँधता ही है। और ज्ञानी धर्मात्मा ने हर्ष-शोक से परे चैतन्य के आनन्द के वेदन को जाना है, इसलिए वे हर्ष-शोक के वेदन के समय भी उसमें एकाकाररूप से परिणमित नहीं होते; उससे भिन्न रहकर, ज्ञान में ही एकता करके उसी का वेदन करते हैं, इसलिए उस ज्ञानवेदन की मुख्यता में धर्मात्मा को निर्जरा ही होती जाती है।

धर्मात्मा को ज्ञान की मुख्यता का वेदन होने से उसी का एक वेदन माना है और हर्ष-शोक का अल्प वेदन होने पर भी, वह गौण होने से उसका अभाव गिना है। इस प्रकार धर्मात्मा को एक ज्ञानवेदन में अन्य वेदना का अभाव ही है, इसलिए उसे वेदना का भय होता ही नहीं।

श्रेणिक राजा आदि सम्यक्त्वी जीव नरक में गये हैं, किन्तु

उनके भी अन्तर में चैतन्य-दृष्टि से ज्ञानवेदन की ही मुख्यता है, शोक का वेदन मुख्य नहीं है; क्योंकि दृष्टि तो अन्तर के चैतन्य-स्वभाव पर ही है। हर्ष-शोक की वेदना तो ऊपर का भाव है। उन ऊपर के भावों द्वारा अन्तर में नहीं पहुँचा जाता। ऊपर के भावों को पार करके धर्मात्मा ने अन्तर में प्रवेश किया है। अन्तर्मुख होकर वे अपने आत्मिक ज्ञान-आनन्द से शान्तरस का वेदन करते हैं।

जिसका वर्णन सुनकर भी साधारण प्राणी काँप उठता है, ऐसी नरक की वेदना में पड़ा हो, वहाँ अज्ञानी तो उस वेदना से ही व्याकुल होकर तड़फता है; उसे चैतन्य का वेदन नहीं होता कि-इस वेदना से परे मेरा चैतन्यतत्त्व है। और ज्ञानी उस नरक की वेदना से परे अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का वेदन करता है। ज्ञानानन्द-स्वरूप की दृष्टि की मुख्यता में शोक के वेदन का उसके अभाव है। यह बात अन्तरंग की है, इसे बाहर से समझना कठिन है।

देखो, पण्डित बनारसीदासजी जब अन्तिम दशा में थे, तब वे तो अपनी ज्ञानदशा में ही थे, किन्तु पास के लोगों को ऐसी शंका हो रही थी कि - इनका जीव निकलने में विलम्ब क्यों हो रहा है? अवश्य वह किसी वस्तु में अटक गया है। पण्डितजी उनकी बात समझ गये और हाथ के इशारे से एक स्लेट मँगाकर उसमें लिखा:—

ज्ञानकुतक्का हाथ मारि अरि मोहना।
प्रगट्यो रूप स्वरूप अनंत सु सोहना॥
जा परजाय को अन्त सत्य कर मानना।
चले बनारसीदास, फेर नहिं आवना॥

देखो, यह ज्ञानी की अन्तरदशा! अन्तर की नि:शंकता से कहते हैं कि-हमने भेदज्ञानरूपी भाले से मोह को छेद डाला है,

मोह को मारकर हम जा रहे हैं... एकाध भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे, अब हम इस संसार में नहीं आएँगे। देखो, यह ज्ञानी की निर्भयता! ज्ञानी के अन्तर का वेदन बाहर से नहीं जाना जा सकता।

अहा! चैतन्य के शान्त, अनाकुल वेदन से हटकर जीव व्यर्थ ही चिन्ता करके आकुलता का वेदन करते हैं। किन्तु बाह्य की जितनी चिन्ता करें, वह सब व्यर्थ है, उसमें मात्र आकुलता का ही वेदन होता है। इसलिए धर्मात्मा तो निराकुलता से अन्तर के चैतन्य -स्वभाव पर निःशंकदृष्टि रखकर ज्ञान के सहज वेदन का निर्भयता से अनुभव करते हैं और 'जैसा वर्तमान, वैसा भविष्य'—इस न्याय से उसे ऐसा भय नहीं होता कि 'भविष्य में रोगादि की वेदना में फँस जाऊँगा!' वह निःशंक है कि भविष्य में भी मेरे ज्ञानस्वरूप में से ऐसे निराकुल ज्ञान का ही वेदन आयेगा; मेरे ज्ञान में अन्य वेदन का अभाव है—ऐसी निःशंकता के कारण धर्मात्मा निर्भय है।

मैं सहज ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ—ऐसी अन्तर्दृष्टि जिसे हुई है, वह सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निःशंक और निर्भय होता है, क्योंकि वह अपने ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त समस्त परद्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष वर्तता है। जो रागादि होते हैं, उनकी भी अपेक्षा नहीं है अर्थात् यह राग मुझे कुछ लाभ देगा—ऐसी किंचित् बुद्धि नहीं है। मैं तो राग से पार ज्ञानस्वरूप ही हूँ, इसके सिवा अन्य कुछ मेरा है ही नहीं—इस प्रकार अत्यन्त निःशंक, दृढ़निश्चयी होने से सम्यग्दृष्टि अत्यन्त निर्भय होता है; सात प्रकार के भय उसे नहीं होते।

सात प्रकार के भयों में से इहलोक, परलोक और वेदना-इन तीन भयों के अभाव सम्बन्धी विवेचन हुआ। अब अरक्षा, अगुप्ति, मरण और अकस्मात, इन चार प्रकार के भयों का भी सम्यग्दृष्टि के अभाव होता है, उसका विवेचन करते हैं।

[४]

स्वत:सिद्ध ज्ञान का अनुभव करते हुए ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता

ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता। प्रतिकूलता आ जायेगी तो मेरी रक्षा कैसे होगी?—ऐसा भय उसे नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, बाह्य प्रतिकूलता आकर मेरे ज्ञानस्वरूप को नष्ट कर दे—ऐसा नहीं हो सकता; मेरा ज्ञान तो स्वत:रक्षित है; उसमें प्रतिकूलता का प्रवेश ही नहीं है। ऐसी नि:शंकता होने के कारण ज्ञानी को अरक्षा भय नहीं होता, ऐसा अब कहते हैं—

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिः
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेतद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५७॥

धर्मात्मा जानता है कि मेरा ज्ञानस्वरूप स्वयमेव सत् है और जो सत् है, वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता - ऐसी ही वस्तुस्थिति है। इस प्रकार मेरा ज्ञान स्वयं स्वभाव से ही रक्षित है; तो फिर दूसरे के द्वारा उसकी रक्षा कैसी? मेरे ज्ञान में अरक्षितता किंचित् है ही नहीं। ऐसी नि:शंकता में धर्मी को अरक्षा का भय कहाँ से होगा? वह तो नि:शंक और निर्भय वर्तता हुआ अपने स्वत:रक्षित ज्ञान का अनुभव करता है।

देखो, आजकल दुनिया एटम बम से कितनी भयभीत है! एटम बम गिरे तो कैसे रक्षा की जाये?... और अमुक रोग से कैसे

बचा जाये ?—इस प्रकार बाह्य में रक्षा के उपाय ढूँढ़ता है और भयभीत रहता है, किन्तु भाई ! एटम बम या रोग में ऐसी शक्ति नहीं है कि तेरे ज्ञानस्वरूप को नष्ट कर सके। इसलिए ज्ञानस्वरूप की प्रतीति कर तो अरक्षा का भय दूर हो जाये।

धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा ज्ञानस्वरूप स्वयमेव सत् होने से स्वयं अपने द्वारा रक्षित ही है, इसलिए कोई दूसरा आकर मेरे ज्ञान को बिगाड़ देगा—ऐसा भय धर्मात्मा को नहीं होता। यह शरीर तो संयोगी और नाशवान ही है, उसकी रक्षा, लाखों उपाय करने पर भी नहीं हो सकती; जबकि आत्मा तो चैतन्यस्वरूप असंयोगी स्वत:सिद्ध सत् है, उसका नाश किसी से हो ही नहीं सकता। ऐसे चैतन्यस्वरूप का जो निरन्तर अनुभव करते हैं, उन ज्ञानी को अपनी अरक्षा का भय कहाँ से होगा ?—वे तो नि:शंकतापूर्वक सहज ज्ञानस्वरूप का ही सदा अनुभव करते हैं।

सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता; यह ज्ञानस्वरूप आत्मा भी सत्तास्वरूप वस्तु है। आत्मा का स्वरूप कहीं ऐसा नहीं है कि दूसरे के द्वारा रक्षा की जाये तभी टिक सके, नहीं तो उसका नाश हो जाये। आत्मा तो स्वत:सिद्ध अविनाशी है। उसका नाश कभी होता ही नहीं - ऐसे आत्मा को ज्ञानी जानते हैं, इसलिए उन्हें अपनी अरक्षा का भय कभी नहीं होता।

[५]

स्वरूप से ही 'गुप्त' ऐसे ज्ञानी को अगुप्ति का भय नहीं होता।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप की ओर उन्मुख होकर उसकी निःशंक प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन धर्म है। ऐसे सम्यग्दर्शन द्वारा निःशंक धर्मात्मा को सात प्रकार के भय नहीं होते, उसका यह वर्णन है।

(१-२) चैतन्यस्वरूप लोक ही अपना है और किसी अन्य के द्वारा वह बिगाड़ा नहीं जा सकता तथा चैतन्यस्वरूप को छोड़कर आत्मा कहीं अन्यत्र नहीं जाता - ऐसा जानते हैं; इसलिए ज्ञानी को इहलोक या परलोक सम्बन्धी भय नहीं होता।

(३) आत्मा तो चैतन्यवेदन का वेदक है, उसमें बाह्य की कोई अन्य वेदना नहीं होती; इसलिए ज्ञानी को वेदना का भय नहीं होता।

(४) आत्मा का सत् चैतन्यस्वरूप स्वयं अपने द्वारा ही रक्षित स्वयंसिद्ध होने से उसका कभी किसी से नाश नहीं होता; इसलिए ज्ञानी को अरक्षा का भय नहीं होता।

इस प्रकार चार भयों का अभाव कहा। अब, कहते हैं कि पाँचवाँ अगुप्ति भय भी ज्ञानी को नहीं होता—

स्वं रूपं किल वस्तुनोस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे नय-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५८॥

वास्तव में वस्तु का स्वरूप ही वस्तु की परम गुप्ति है, क्योंकि वस्तु के निजस्वरूप में, दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा तो सहज ज्ञानस्वरूपी है, उसके ज्ञानस्वरूप में किसी दूसरे का प्रवेश कभी नहीं होता, इसलिए ज्ञानस्वरूप स्वयं अपने से ही गुप्त है।— ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप को जानते हुए धर्मात्मा को अगुप्ति का भय नहीं होता। मेरे स्वरूप में अन्य कोई आ ही नहीं सकता, तो कोई चोर आदि मुझमें आकर मेरे स्वरूप की चोरी कर ले या उसे बिगाड़ दे – यह बात ही कहाँ रही?

जब तारंगा सिद्धक्षेत्र पर गये तो वहाँ एक सुन्दर गुफा देखी थी। शेर-चीते का डर होने से गुफा के द्वार पर लोहे के सींकचों का दरवाजा लगा था, ताकि कोई जंगली जानवर अन्दर प्रवेश न कर सके, परन्तु इस ज्ञान-गुफा में विद्यमान आत्मा तो स्वभाव से ही ऐसा गुप्त है कि उसमें किसी अन्य का प्रवेश ही नहीं है—ऐसा जानते हुए ज्ञानी को स्वरूप की अगुप्ति का भय नहीं होता।

ज्ञान आत्मा के साथ सदा एकाकाररूप से ही विद्यमान है; इसलिए आत्मा अपनी ज्ञान-गुफा में ही निवास करता है। ज्ञान-गुफा में अन्य किसी का प्रवेश है ही नहीं, तो फिर अगुप्ति का भय कहाँ से होगा?

मेरे ज्ञान में अन्य कोई आ नहीं सकता और मेरा ज्ञान आत्मा से पृथक् होकर अन्य में जाता नहीं है। मेरा ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अपने स्वरूप में गुप्त ही है। ऐसा निःशंकरूप से जानता हुआ ज्ञानी, निर्भयतापूर्वक अपने सहजज्ञान का ही निरन्तर अनुभव करता है, उसे अगुप्ति का भय नहीं होता।

जिस प्रकार लोक में रुपया, सोना या गहने आदि वस्तुओं को

छिपाकर-गुप्तरूप से न रखा जाये तो कोई चुरा ले जाता है। वहाँ पैसे की रक्षा के लिए अगुप्ति का भय होता है, परन्तु पैसा तो पृथक् वस्तु है, इसलिए वह चला जाता है, उसकी रक्षा के अनेकों उपाय करने पर भी रक्षा नहीं हो सकती, किन्तु यहाँ ज्ञान में ऐसा अगुप्ति का भय नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो आत्मा से सदा अभिन्न होने के कारण उसे कोई चुरा नहीं सकता; इसलिए वह तो स्वतः रक्षित और गुप्त ही है;—ऐसे निजस्वरूप को जानते हुए ज्ञानी को अगुप्ति का भय नहीं होता।

'गुप्ति' अर्थात् जिसमें चोर आदि प्रवेश न कर सकें—ऐसा किला, भोंयरा आदि निर्भय स्थान; उसमें प्राणी निर्भयरूप से रह सकता है। यदि गुप्त प्रदेश न हो और खुला हो तो उसमें रहनेवाले प्राणी को भय लगता है। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि आत्मा को रहने के लिए ऐसा कोई निर्भय-गुप्तस्थान है, जिसमें आत्मा निर्भयरूप से रह सके? तो कहते हैं कि हाँ; आत्मा का ज्ञानस्वरूप ही परमगुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है, क्योंकि आत्मा के ज्ञानस्वरूप में अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसे आत्मस्वरूप को जानता हुआ ज्ञानी अपनी ज्ञान-गुफा में निर्भयतापूर्वक निवास करता है, वहाँ उसे अगुप्ति का भय नहीं होता।

[6]

शाश्वत चैतन्यप्राण का अनुभवन करनेवाले ज्ञानी को मृत्यु का भय नहीं होता।

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१५९॥

ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता, क्योंकि आत्मा कभी मरता ही नहीं है। आत्मा तो अपने चैतन्य-प्राण से सदा जीवित है—ऐसे आत्मा को नि:शंकरूप से जाना, वहाँ मरण का भय कहाँ से होगा? जिसे शरीर में आत्मशुद्धि है, ऐसा अज्ञानी जीव उसमें किंचित् परिवर्तन होने से 'हाय, हाय! मैं मर जाऊँगा!'—इस प्रकार मृत्यु से भयभीत रहता हैं, किन्तु ज्ञानी ने तो आत्मा को शरीर से भिन्न जाना है; इसलिए उन्हें मृत्यु का भय कैसे होगा?

प्राणों के नाश को मरण कहते हैं। आत्मा का प्राण तो निश्चय से ज्ञान है, वह ज्ञान-प्राण स्वयमेव शाश्वत होने से उसका कभी नाश नहीं होता; इसलिए आत्मा का मरण कभी होता ही नहीं। जड़-प्राण तो आत्मा से सचमुच भिन्न ही हैं, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं हैं, इसलिए उन जड़-प्राणों के वियोग से आत्मा मर नहीं जाता; आत्मा तो अपने स्वाभाविक चैतन्य-प्राण से सदा जीवित ही है—तो फिर ऐसे आवत्मस्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी को मरण का भय कहाँ से होगा? ज्ञानी तो चैतन्य-प्राण से सदा जीवित ऐसे अपने आत्मा का नि:शंकरूप से अनुभव करते हैं;

'किसी संयोग द्वारा मेरी मृत्यु हो जायेगी'—ऐसी मृत्यु की शंका या भय उन्हें नहीं होता।

यह जो इन्द्रियादि दस प्राण हैं, वे तो आत्मा को संयोगरूप हैं, वे कहीं आत्मा के स्वभावरूप नहीं हैं; इसलिए उन प्राणों के वियोग से आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मा का स्वभावरूप प्राण तो चैतन्य है, उस चैतन्य प्राण का आत्मा को कभी वियोग नहीं होता; इसलिए आत्मा की मृत्यु कभी होती ही नहीं।

इस शरीर के आश्रित दस प्राण हैं, वे जड़ हैं, उन प्राणों के वियोग को लोक में मरण कहा जाता है, किन्तु ज्ञानी तो जानता है कि मैं तो सत्-चैतन्यमय हूँ, मेरे प्राण तो चैतन्य हैं, चैतन्यप्राण का मुझे कभी वियोग नहीं होता; इसलिए मेरी मृत्यु नहीं होती। पाँच इन्द्रियाँ, श्वास, आयु या मन, वचन, काया, वे सब जड़ हैं; वे मुझसे भिन्न हैं, मैं उन जड़ प्राणों से जीनेवाला नहीं हूँ; मैं तो अपने चैतन्य प्राण से जीनेवाला हूँ। मेरे चैतनयप्राण शाश्वत हैं—ऐसा जाननेवाले धर्मात्मा को मृत्यु का भय नहीं होता। मेरा मरण है ही नहीं—फिर मरण का भय कैसा? जगत को मरण का भय है किन्तु ज्ञानी तो निर्भय हैं, उन्हें मरण का भय नहीं होता; वे तो निजानन्द में लीन हैं।

मिथ्यात्वदशा में आत्मा का मरण मानता था, तब मरण का भय था, किन्तु शाश्वत् चैतन्यप्राण से सदा जीवित रहनेवाले आत्मा को जानकर, जब मिथ्यात्व का नाश किया, वहाँ ज्ञानी को मरण का भय नहीं होता।

जन्म-मरण तो शरीर के संयोग-वियोग से कहे जाते हैं, किन्तु आत्मा चैतन्यस्वरूप से स्थित रहनेवाला है, वह कहीं जन्म-मरण

नहीं करता। जीवन–शक्ति से आत्मा सदा जीवित है, उसका कभी नाश नहीं होता; इसलिए ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टिवाले धर्मात्मा को मृत्यु का भय नहीं होता।

देखो, एक आदमी का पुत्र मर गया; उसे किसी ने खबर दी कि तुम्हारा पुत्र मर गया है। यह सुनकर उस आदमी ने कहा कि 'मैं धर्मात्मा हूँ, इसलिए मेरे पुत्र छोटी उम्र में नहीं मर सकते।'— ऐसा उत्तर सुनकर वह आदमी कहने लगा कि देखो, इसे धर्म की कितनी दृढ़ता है! किन्तु भाई! यह कोई धर्म का माप नहीं है। धर्मात्मा का पुत्र छोटी उम्र में न मरे—ऐसा कोई नियम नहीं है। धर्म का सम्बन्ध पुत्र की आयु के साथ नहीं होता। कोई अधर्मी पुरुष हो, तथापि उसके पुत्र दीर्घायु होते हैं और कोई धर्मात्मा हो, तथापि उसके पुत्र छोटी उम्र में भी मर जाते हैं, और कभी तो स्वयं धर्मी की भी अल्प–आयु होती है। पापी दीर्घ काल तक जीते हैं और धर्मात्मा की आयु अल्प होती है–ऐसा भी जगत में होता है। आठ वर्ष की उम्र हो, तथापि कोई जीव आत्मा में लीन होकर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं; इसलिए दीर्घ–अल्प आयु से धर्मी का माप नहीं निकलता। धर्मी का माप तो इस प्रकार है कि उसने अपने आत्मा को शाश्वत चैतन्य प्राण से जीनेवाला जाना है; इसलिए उसे मरण का भय नहीं होता; निःशंकता और निर्भयता से वह अपने सहज ज्ञानानन्दस्वरूप का ही अनुभव करता है; इसलिए देह छूटने के काल में भी उसके निर्जरा ही होती जाती है।

[7]

पर से भिन्न ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में ज्ञानी को अकस्मात् का भय नहीं होता।

आत्मा नित्यस्थायी ज्ञान-आनन्दस्वरूप वस्तु है, उसकी जहाँ प्रतीति हुई, वहाँ ज्ञानी को अकस्मात् का ऐसा भय नहीं होता कि—'मेरे ज्ञान में अचानक कोई अनिष्ट आ जायेगा तो?' ज्ञानी तो जानता है कि मेरा ज्ञान अनादि-अनन्त एकरूप अचल ज्ञानस्वरूप से ही रहनेवाला है, उसमें कोई परवस्तु या परभाव अचानक आकर ज्ञान को बिगाड़ दे - ऐसा नहीं होता; इसलिए अकस्मात् का भय ज्ञानी को नहीं होता है—ऐसा अब कहते हैं—

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तादिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः॥
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवत्तेद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंक सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥१६०॥

धर्मी जानता है कि मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है; मैं अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूप ही हूँ; मेरा ज्ञान बदलकर अचानक जड़रूप या रागरूप हो जाये, ऐसा अकस्मात् मेरे ज्ञान में कभी होता ही नहीं; ज्ञान तो सदा ज्ञानरूप ही रहता है। ऐसे ज्ञान में धर्मी को अकस्मात् का भय नहीं होता। ज्ञान में ज्ञान का ही उदय रहता है, अन्य का उदय नहीं होता;—ऐसे ज्ञान का निःशंकरूप से अनुभव करता है; इसलिए धर्मी जीव अकस्मात् आदि के भय से रहित-निर्भय होता है।

धर्मी जीव का सम्यग्दर्शन अन्तरंग स्वभाव के साधन से हुआ है, किसी बाह्य साधन के अवलम्बन से नहीं हुआ; इसलिए किसी

बाह्य वस्तु के भय से वह अपने ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होता। ज्ञानस्वरूप के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान में निःशंक तथा निर्भयरूप से वर्तता है। सम्यग्दर्शन क्या संयोग के अवलम्बन से हुआ है कि संयोग उसका नाश कर देगा? - नहीं; सम्यग्दर्शन तो स्वभाव के अवलम्बन से हुआ है, इसलिए ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन द्वारा धर्मी निःशंकता से वर्तता है; जगत में सात प्रकार के भय उसे नहीं होते। ज्ञानस्वभावोन्मुख हुए ज्ञान में ज्ञानी को ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भाव का उदय नहीं होता, रागादिभाव ज्ञान के साथ कभी एकमेक नहीं होते, ज्ञान में किसी अन्य का प्रवेश ही नहीं है तो ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से होगा? मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ—ऐसी निःशंक प्रतीति से ज्ञानी सदा निर्भय होकर वर्तते हैं।

मेरा आत्मा अनादि काल से ज्ञानस्वरूप ही था, कहीं जड़स्वरूप नहीं हो गया था; वर्तमान में भी ज्ञानस्वरूप ही है और अनन्त काल तक सदा ज्ञानस्वरूप ही रहेगा। सदा ज्ञानस्वरूप मेरे आत्मा में शरीरादि का कभी प्रवेश नहीं है। मेरा आत्मा कभी ज्ञानस्वरूप से छूटकर शरीररूप या विकाररूप नहीं हो गया है—इस प्रकार ज्ञान सदा ज्ञानस्वरूप ही रहने के कारण उसमें अन्य का उदय ही नहीं है। ज्ञान कभी अचानक जड़रूप या विकाररूप हो जाये—ऐसा अकस्मात् ज्ञान में कभी होता ही नहीं; इसलिए ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करनेवाले धर्मी को अकस्मात् का भय नहीं होता। अकस्मात् बिजली गिरने से मेरा ज्ञान नष्ट हो जायेगा तो?—ऐसा भय ज्ञानी को नहीं होता, क्योंकि बिजली में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ज्ञान को अन्यथा कर सके। (इसी प्रकार सर्प, अग्नि, बम आदि में भी समझ लेना)।

'वर्तमान में तो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है, किन्तु भविष्य में

कौन जाने कैसा उदय आयेगा और ज्ञान को नष्ट कर देगा तो?'— ऐसा सन्देह या भय ज्ञानी को नहीं होता। 'जैसा वर्तमान वैसा भविष्य'; जिस प्रकार वर्तमान में मैं निःशंकतापूर्वक ज्ञानस्वरूप से वर्त रहा हूँ, उसी प्रकार भविष्य में भी ज्ञानस्वरूप ही रहूँगा—ऐसी धर्मी को निःशंक श्रद्धा है, और निःशंक होने से वह निर्भय है। ऐसी निःशंकता और निर्भयता से ज्ञानस्वरूप का अनुभवन करने पर उसे निर्जरा ही होती जाती है, यही धर्म है।

'कोई अचानक अनिष्ट हो जायेगा तो?' ऐसा भय बना रहना वह आकस्मिक भय है। किन्तु ज्ञानी जानता है कि मेरे ज्ञान में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ उत्पन्न ही नहीं होता, इसलिए ज्ञान में अचानक अकस्मात् होता ही नहीं; तो फिर ज्ञानी को अकस्मात् का भय कहाँ से होगा? ज्ञान में अकस्मात् नहीं है, उसी प्रकार ज्ञेयों में भी अकस्मात् नहीं है, क्योंकि जगत के पदार्थों में जो कुछ परिणमन हो रहा है, वह उनके परिणमनस्वभावानुसार व्यवस्थित ही है—ऐसे वस्तुस्वभाव को जाननेवाले धर्मात्मा को आकस्मिक भय नहीं होता।

इस प्रकार ज्ञानी को सात भय नहीं होते। चारित्र की अस्थिरता के कारण कोई भय आ जाये तो अलग बात है, किन्तु ज्ञानस्वरूप में शंका द्वारा होनेवाला भय उनको नहीं होता। किसी प्रसंग में ऐसा भय नहीं होता कि—'अरे, यह मेरे ज्ञानास्वरूप से मुझे डिगा देगा!' 'मुझे अपने ज्ञानस्वरूप से डिगाने में जगत में कोई समर्थ नहीं है'—ऐसी निःशंकता के कारण ज्ञानी निर्भय हैं। उन्हें ऐसा कोई भय नहीं होता कि जिससे वे अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा से च्युत हो जायें। सिंहादि का भय हो, उस समय भी उन्हें अन्तर में उस भय से परे चिदानन्दतत्त्व की निःशंक-श्रद्धा वर्तती है और इसी से वे निर्भय हैं; और कोई अज्ञानी जीव सिंह, बाघ आये,

तथापि ज्यों का त्यों निर्भयतापूर्वक खड़ा रहे, सिंह, शरीर को फाड़ डाले, तथापि चलायमान न हो, किन्तु अन्तर में राग से पार चैतन्यतत्त्व का वेदन नहीं है और राग की मन्दता को धर्म मान रहा है, तो वह वास्तव में निर्भय नहीं है, किन्तु अनन्त भय में डूबा रहा है, क्योंकि ऐसे शुभराग के बिना मेरा चैतन्यतत्त्व स्थिर नहीं रह सकेगा—ऐसी शंका में ही वह पड़ा है।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा चैतन्यतत्त्व तो परवस्तु या राग के बिना स्वतः ज्ञानरूप से स्थिर है; ज्ञान में से रागादि प्रगट हों, ऐसा अकस्मात् कभी नहीं होता; इसलिए मैं अपने ज्ञानस्वरूप में निःशंक हूँ—ऐसी निःशंकता के कारण ज्ञानी निर्मल हैं और उन्हें बन्धन नहीं होता किन्तु निर्जरा ही होती है।

* * *

देखो, यह सम्यग्दर्शन की महिमा! जहाँ निःशंकता और निर्भयता से जगमगाता हुआ सम्यक्त्वरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ उस सूर्य का प्रताप आठों कर्मों को जलाकर भस्म कर देता है। सम्यक्त्वी अल्प काल में ही सर्व कर्मों का क्षय करके परम सिद्धपद को प्राप्त करता है, वह उसके सम्यग्दर्शन का प्रताप है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा निजरस से भरपूर ज्ञान का ही अनुभव करता है, ज्ञान के अनुभव में रागादि को किंचित्मात्र एकमेक नहीं करता। निःशंकतापूर्वक अपने ज्ञानस्वरूप का रागादि से अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है और इस प्रकार ज्ञानस्वरूप के अनुभव द्वारा वह समस्त कर्मों का नाश करके सिद्धपद प्राप्त कर लेता है।

नमस्कार हो उस चैतन्याकाश को... कि जहाँ ऐसा सम्यक्त्वसूर्य जगमगा रहा है।

स्वरूप-सागर में डुबकी लगाने से निर्विकल्प आनन्द उल्लसित होता है। भाई! अतीन्द्रिय स्वभावसुख की प्रतीति इस समय हो सकती है, और उसका अंशत: वेदन भी होता है। अतीन्द्रिय सुख की बात सुनते ही मुमुक्षु का आत्मा उल्लसित हो उठता है कि 'वाह! ऐसा मेरा सुख है!'

* * *

रयणत्तये अलद्धे भमिओसि दीहसंसारे।
इव जिणवरहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह॥

रे जीव! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को प्राप्त न कर पाने से तूने इस दीर्घ संसार में परिभ्रमण किया; इसलिए अब तू उस रत्नत्रय का उत्तम प्रकार से आचरण कर—ऐसा श्री जिनेश्वरदेव ने कहा है।